प्रारंभिक रचनाएँ

[तीसरा भाग—कहानियाँ]

बच्चन

ग्रंथ-संख्या—११७
प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भंडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

पहला संस्करण—सितंबर, १९४६
मूल्य २)

मुद्रक
महादेव एन० जोशी
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

विज्ञापन

'प्रारंभिक रचनाएँ' का दूसरा संस्करण प्रकाशित करते समय हम उसके दो भागों के साथ एक तीसरा भाग भी जोड़ रहे हैं और इसमें बच्चन की कहानियाँ हैं।

इस बात का पता कम ही लोगों को है कि बच्चन ने साहित्य क्षेत्र में पहले पहल कवि नहीं बल्कि कहानीकार के रूप में प्रवेश किया था। 'बच्चन' के नाम से उनकी कविताओं के प्रकाशन के पूर्व 'हरिवंश राय' के नाम से उनकी कई कहानियाँ हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं। यह तो एक रहस्य की बात है कि लेखक के जीवन में कौन ऐसी परिस्थितियाँ आईं कि जिससे उनका कहानीकार मौन हो गया और कवि मुखरित हो उठा।

बच्चन के अनेक मित्रों को, जो उनके कवि में उनके बाल-गल्पकार को न भूल सके थे, बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि उनकी कहानियों का भी एक संग्रह प्रकाशित किया जाय। इसी माँग की पूर्ति के लिए कई वर्ष हुए सुषमा-निकुंज से उन्हें 'हृदय की आँखें' के नाम से प्रकाशित करने का विज्ञापन किया गया था परंतु किसी कारण से वह छप न सका।

अब हमने उन्हें 'प्रारंभिक रचनाएँ' के तीसरे भाग में संगृहीत किया है। कहानियाँ 'प्रारंभिक रचनाएँ' की कविताओं की समकालीन हैं और इस कारण उनका यही नाम देना हमें उपयुक्त जान पड़ा। दोनों को साथ पढ़ने वाले सहज ही यह अनुभव करेंगे कि कैसे लेखक के अंदर चार वर्ष तक कवि और कहानीकार परस्पर संघर्ष करते रहे हैं और कैसे अंत में कवि विजयी हुआ है। संग्रह रोचक और कौतूहल वर्धक है।

—प्रकाशक

समर्पण

भाई यादवेंद्र,

तुमने जो मुझे ठोंक-पीटकर कहानीकार बनाने का प्रयत्न किया था उसमें तुम किस प्रकार असफल रहे, इसके सबूत में यह कहानियाँ मैं तुम्हें समर्पित करता हूँ।

सस्नेह तुम्हारा
बच्चन

सूची

प्रारंभिक रचनाएँ

तीसरा भाग-कहानियाँ

माता और मातृ-भूमि*

काबुल शहर जहाँ खतम होता है उससे कोई एक आधे मील चलकर ज़हूरी फ़िर्क़े की एक छोटी सी बस्ती है। ज़हूरियों की क़ौम आम तौर से अंगूरों का रोज़गार करती है। कुछ लोग फ़ौज में भी नौकरी करते हैं। लड़ने-भिड़ने का माद्दा तो हर अफ़ग़ानिस्तानी में रहता है।

इसी बस्ती के एक किनारे पर एक छोटे से मकान में उमर और उसकी माँ रहते थे। उमर के पिता फ़ौज ही में नौकर थे। वे उम्र भर बड़ी वफ़ादारी से काम करके एक लड़ाई में मारे गए। अफ़ग़ान सरकार उनकी सेवाओं से प्रसन्न थी। वह बेवा अज़मतुन को बराबर गुज़र-बसर करने योग्य रक़म माहवारी देती थी। इसी से घर का काम चलता था।

अज़मतुन थोड़ा-बहुत पढ़ी-लिखी थी। जब उमर के पिता की मृत्यु हुई, वह बहुत छोटा था। जब कुछ बड़ा हुआ, उसके पड़ोसियों ने उसे अंगूर के रोज़गार में लगा दिया। कुछ बरसों तक वह उस में रहा। अज़मतुन को यह बात कभी अच्छी न लगी। वह अपने लड़के को पढ़ाना-लिखाना चाहती थी। पर अफ़ग़ानिस्तान में जो स्कूल थे उनमें अमीरों के ही लड़के पढ़ सकते थे। उन्हीं का पढ़ना ज़रूरी समझा जाता था। सभी पढ़ लेंगे तो पढ़ने की क़दर ही क्या रह

---

*प्रयाग विश्वविद्यालय हिंदी-परिषद के प्रथम गल्प सम्मेलन (सन् १९२९) में पठित।

जायगी ? नीची क़ौमों के लोग पढ़-लिख लेंगे तो नीचे काम फिर कौन करेगा ? ऐसे-ऐसे विचार फैले थे। अपने देश में भी तो ऐसी-ऐसी कहावतें हैं; सभी कुत्ते बनारस चले जायँगे तो पत्तल कौन चाटेगा ? ज़हूरियों की क़ौम एक नीची क़ौम समझी जाती थी। उनके लिए पढ़ने में नमाज़ और लिखने में मामूली जोड़, बाक़ी, गुणा, भाग काफ़ी समझा जाता था और इसके लिए किसी उस्ताद या मदरसे की ज़रूरत क्या थी ? हर बाप अपने लड़के को यह सिखा सकता था।

परंतु अज़मतुन की इच्छा पूर्ण होने वाली थी। तख़्त पर बैठने के कुछ ही बरसों के अंदर सरदार अमानुल्ला ख़ां ने बहुत से स्कूल खुलवाए, और इस बात की मुनादी करादी कि, सब लोग, चाहे वे नीची क़ौमों के हों या ऊँची क़ौमों के, रईस हों या ग़रीब, इन स्कूलों में पढ़ सकते हैं। ग़रीबों को बिना फ़ीस के भी शिक्षा देने का प्रबंध किया गया। अज़मतुन ने ज़रा भी देर न की। उमर को अंगूर के रोज़गार से निकाल लिया। उसका जी पहले से भी उसमें न लगता था। काबुल के एक स्कूल में भरती करा दिया। पास-पड़ोस के लोगों को अज़मतुन का यह काम अच्छा न लगा। औरतें कहतीं, 'ख़ानदान में किसी ने पढ़ा है कि तुम्हारा ही लड़का चला पढ़ने। कोई-कोई ताने मारतीं, 'अरे भाई माँ पढ़ी है, बाप-दादे बे-पढ़े थे तो क्या हुआ'। कोई कुछ कहता, कोई कुछ सुनाता, कोई डराता। पहले-पहल अपने देश में भी तो जब सभी को पढ़ने का बराबर अधिकार दिया गया था, इसी तरह की बातें होती थीं। गाँवों में तो अब तक होती हैं। लोग अज़मतुन को धमकाते कि कोई उसके लड़के की शादी न करेगा, वह फ़िर्क़े से निकाल दिया जायगा पर उसे तो इस समय उसके शिक्षा की ही चिंता थी। वह इन बातों से ज़रा भी न डरी। अपने मन का ही कर डाला। उमर रोज़ स्कूल जाने लगा। हर साल पास होता, हर साल खेल-कूद में भी उसे तमग़े और इनाम मिलते। अज़मतुन बड़ी खुश रहती। उमर

अपनी माता को हृदय से धन्यवाद देता कि उसने उसे पढ़ने-लिखने में लगाया नहीं तो उसकी सारी ज़िंदगी बर्बाद हो जाती।

(२)

उमर की अवस्था इस समय कोई बीस, इक्कीस वर्ष की हो गई थी। अफ़ग़ानों में प्रायः सत्रह, अठारह वर्ष के लड़कों का विवाह हो जाता है, पर उमर अभी तक अविवाहित था। इसका कारण यह नहीं था कि लोग एक पढ़े-लिखे ज़हूरी के साथ अपनी लड़की का ब्याह करना नहीं चाहते थे। उसकी माँ ने भी उसे कभी विवाह करने के लिये मजबूर न किया। वह हिंदुस्तान की उन मूर्ख माताओं के समान न थी, जिनके जीवन का मानो ध्येय ही यह होता है कि वे बेटे का विवाह देख लें, चाहे बेटे का इस विवाह के कारण सर्वनाश ही क्यों न होता हो!

अज़मतुन की उम्र अब क़रीब साठ के हो गई थी। अब उसका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। उसके पैरों में एक ऐसा दर्द उठना आरंभ हुआ कि उसका चलना-फिरना कठिन हो गया। हालत दिन-बदिन ख़राब ही होती गई। कुछ दिनों में यह हालत हो गई कि बिना किसी की सहायता के न उठ सकती थी, न बैठ सकती थी। उमर मिडिल पास हो चुका था। माता की दशा को देखकर उसने सोचा कि अब उसका घर पर रहना ही बहुत ज़रूरी है। उसने स्कूल छोड़ दिया और घर पर रहकर माता की सेवा-सुश्रूषा करने लगा। उमर माता की सेवा में बड़ा आनंद पाता। उनको हर तरह से आराम पहुँचाने का सदा प्रयत्न किया करता। दवा-दारू करने से और सब हालतें तो सुधर गईं पर पैर की तकलीफ़ दूर न हुई और यही सब से बड़ी तकलीफ़ थी।

उमर को स्कूल छोड़े क़रीब दो ही तीन मास हुए होंगे जब

अफ़ग़ानिस्तान में क्रांति आरंभ हुई। अमानुल्ला के सुधारों का मौलवी-मुल्लाओं ने विरोध करना आरंभ किया। उनके स्त्री संबंधी तथा अन्य सुधारों को इस्लाम धर्म्म के प्रतिकूल बतलाया जाने लगा। अमानुल्ला ने पहले तो इस विरोध की कुछ भी परवाह न की। पर जब मुल्लाओं ने उन्हें खुल्लमखुल्ला काफ़िर कहना आरंभ किया और उनके सारे परिश्रम को मिट्टी में मिलाने पर ही उतारू हो गए तो उन्होंने दो-एक को प्राणदंड भी दिया। इन धर्म्म के ठेकेदारों ने दीन के दीवाने, मिथ्यांधविश्वासी और केवल आडंबर मात्र को धर्म्म समझने वाले मुसलमानों को भड़काना आरंभ कर दिया। छिपे-छिपे हर जगह फ़तवे भेज दिए कि अमानुल्ला काफ़िर है और अफ़ग़ानिस्तान का एक बहुत बड़ा भाग अमानुल्ला का विरोधी बन बैठा। फल यह हुआ कि एक दिन एकाएक काबुल घेर लिया गया और अमानुल्ला को राजमहल छोड़कर क़िले में शरण लेनी पड़ी। परंतु थोड़े दिनों में क़िला भी छोड़ना पड़ा। राजधानी हाथ से निकल गई। कुछ स्वामि-भक्त फौजों, फ़िर्क़ों और अफ़ग़ानिस्तान के कुछ नवयुवकों ने अमानुल्ला का साथ देने का वादा किया। इन्हीं की सहायता से वह लड़ने को तैयार हुए।

(३)

अज़मतुन अमानुल्ला के सुधारों को बड़े आदर की दृष्टि से देखती थी। वह कहा करती, 'अमानुल्ला आदमी नहीं कोई फ़रिश्ता है जो अफ़ग़ान क़ौम को एक दिन तरक़्क़ी के एक बुलंद दर्जे पर पहुँचा देगा।' जब उसने अमानुल्ला के इस तरह राजधानी से भगाए जाने का समाचार सुना तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। दो तीन दिन तक मारे शोक के उसने खाना न खाया। बिस्तर पर पड़े-पड़े यही प्रार्थना करती रही कि, 'ऐ खुदा अमानुल्ला के दुश्मनों को जल्द बर्बाद करके उसे फ़तहयाबी दे।'

उसे पूरा विश्वास था कि बहुत जल्द अफ़ग़ानिस्तानी अपनी ग़लती को समझ जायँगे और अमानुल्ला को बुलाकर तख्त पर बिठाएँगे और उनके हुक्म को मानेंगे।

पर होनेवाला कुछ और ही था। दिन बीतते गए। अज़मतुन को रोज़ उमर अखबार लाकर सुनाता। पढ़ने से यही मालूम होता कि आमानुल्ला की शक्ति दिन-दिन घटती ही जाती है। जहाँ अमानुल्ला का हार का समाचार अज़मतुन सुनती रो पड़ती, उसे क्रोध आजाता, उसका चेहरा लाल हो जाता, वह दाँत पीसने लगती। अगर अज़मतुन के अंदर युवावस्था की शक्ति मौजूद होती तो क्या आश्चर्य था यदि अज़मतुन स्वयं हथियार हाथ में लेकर दुश्मनों से लड़ने जाती और एक अफ़ग़ानिस्तानी जोन आफ़ आर्क का उदाहरण उपस्थित करती? अज़मतुन दिन-रात चिंता-मग्न रहने लगी।

उमर अमानुल्ला के स्कूलों में बरसों पढ़ चुका था। इन स्कूलों में कोरी पढ़ाई ही नहीं होती थी बल्कि हर विद्यार्थी को यह सिखाया जाता था कि वह राष्ट्रीयता को अपने हृदय में सब से ऊँचा स्थान दे और देश की उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। सामाजिक कुरीतियों को दूर करे और मिथ्यांधविश्वासों के प्रतिकूल क्रांति मचाए। विद्यार्थियों की हर कापी पर यह लिखा रहता था 'मादरे अफ़ग़ानिस्तान अपने हर बच्चे से यह उम्मीद रखती है कि वह उसके खतरों में दिलो जान से उसकी मदद करेगा।' अपने गुलाम देश की तरह वहाँ यह नहीं कहा जाता था, कि बच्चे देश को संकटों में देखकर अपनी आँखों के सामने किताबों के पर्दे खींच लिया करें। अफ़ग़ानिस्तान पर इस समय संकट आ गया था। उमर ने देखा कि माँ—अफ़ग़ानिस्तान का अंचल चारों ओर से खींचा जा रहा है, उसकी दुर्दशा हो रही है, वह बिलख-बिलखकर रो रही है और आशापूर्ण नयनों से अपने नवयुवकों की

प्रा० २

ओर देख रही है। माँ पूछती, 'उमर' क्या तुम न आओगे ?' उमर क्या उत्तर देता ? जन्मदात्री माता के प्रति भी उसका कर्त्तव्य था। उसकी इच्छा होती मैं दो उमर हो जाऊँ, एक से इस माँ की सेवा करूँ और एक से उस माँ की। उसका चित्त उद्विग्न-सा रहने लगा। रात को उसे नींद न आती। चारपाई पर पड़े-पड़े ज़ोरों से हाथ चलाने लगता मानो तलवार चला रहा है। सोते-सोते चिल्ला पड़ता—'ये दुश्मन आए—वो फ़ौज आई—मारो-काटो।' अज़मतुन जाग पड़ती। पूछती, 'क्या ख़्वाब देखते थे बेटा ?' उमर कह देता, 'कुछ नहीं माँ, तुम्हारी तबियत तो अच्छी है, कुछ चाहिये ?' अज़मतुन 'कुछ नहीं' कहकर अनेक विचारों में मग्न हो जाती।

(४)

'अख़बार लोगे साहब, ताज़े अख़बार'

उमर ने झट दौड़ कर 'तरक़्क़ी' अख़बार ख़रीदा। यह अमानुल्ला पक्ष का अख़बार था। माँ के पास पहुँचा। माँ बिस्तर पर बैठी थी ऊपर ही मोटे-मोटे हरूफ़ों में छपा था, 'नौजवानान् अफ़ग़ानिस्तान से अमानुल्ला खाँ की अपील।' उमर ने उसे देखा, बिना पढ़े ही पेज उलट दिया। दूसरे पेज पर पढ़ने लगा। माँ ने टोका, 'बेटा, उन मोटे हरूफ़ों में क्या 'अपील' छपी है ?'

उमर जो अपनी माँ से छिपाना चाहता था वही उसे सुनाना पड़ा। बड़ी दर्द भरी अपील थी ! मालूम होता था कि उसका एक-एक अक्षर अमानुल्ला के आँसुओं से लिखा गया था। पढ़ते-पढ़ते उमर का गला रुँध गया। किसी तरह ख़तम किया। अज़मतुन बीच में कई बार सिर हिलाती गई। और हार-जीत की ख़बरें पढ़ी गईं। अज़मतुन की आँखों में आँसू भर आए पर आज उसके चेहरे पर एक अनोखी

प्रसन्नता थी। न आज उसको क्रोध आया, न उसकी आँखें लाल हुईं, और न उसने होंठ दबाये। उमर से बोली, 'उठो बेटा, खाना लाओ।' उमर ने उसके लिए खाना परोस कर चारपाई पर रख दिया। अपने लिए नीचे परोस कर रक्खा। माँ ने कहा, 'बेटा आज मुझे भूख कम है, आ मेरे साथ ही खाले, नहीं तो बहुत सा खाना खराब होगा। अपना हिस्सा शाम के लिए रख दे।' माँ-बेटे एक साथ खाना खाने बैठ गए। माँ बड़ी प्रसन्न हुई।

जब दोनों खा चुके अज़मतुन बोली, 'बेटा आज हकीम साहब के यहाँ जाना होगा, ज़रा ऐसे वक्त से जाना जिसमें चिराग़ जलने के पेश्तर ही लौट आओ।' उमर ने माता की आज्ञा का उल्लंघन करना तो सीखा ही न था। फ़ौरन बोल उठा, 'अच्छा माँ, अभी जाता हूँ, क्या हाल कह दूँगा ?'

'कुछ सेहत है। अभी क्यों जाओगे, थोड़ी देर आराम कर लो, अभी ही खाना खाया है।'

'नहीं माँ, मैं अभी जाता हूँ, मुझे कोई तकलीफ़ न होगी, पानी तुम्हारे सिरहाने रख दिया है। और कुछ चाहिये ? जहाँ तक होगा जल्द ही आऊँगा।'

'बेटा, तूने मेरी बड़ी खिदमत की, खुदा तुझे सलामत रक्खे' यह कहते हुए अज़मतुन ने उसकी पीठ पर हाथ फेर दिया। उमर जल्दी कपड़े पहनकर चल दिया। माँ बड़ी देर तक बेटे की तरफ़ देखती रही यहाँ तक कि वह आँखों से ओझल हो गया।

उमर का ओझल होना था कि अज़मतुन चारपाई पर से उतर पड़ी। हफ़्तों से वह अपने आप न उठ पाती थी, लेकिन आज उसे न जाने कहाँ से इतनी ताक़त आ गई। दीवार पकड़कर उमर की किताबों की आलमारी तक पहुँची। एक कापी से एक पेज काग़ज़ फाड़ा, क़लम

दावात उठाई। फिर चारपाई पर आई; और बैठकर कुछ लिखने लगी। उसके हाथ काँप रहे थे। जल्दी लिखना खतम करके उसने काग़ज़ को ठीक दरवाज़े के सामने, उसका एक कोना एक किताब से दबाकर रख दिया। जल्दी से उठी किवाड़ों को भीतर से बंद कर दिया।

(५)

कोई चार-साढ़े चार का वक्त होगा। उमर थका-माँदा दवाएँ लिए हुए घर आ पहुँचा। दूर ही से देख रहा था कि दरवाजा बंद है। समझा हवा से बंद हो गया होगा। मगर जब उसने दरवाज़े पर हाथ रखकर उसे ढकेला तो मालूम हुआ कि भीतर से किसी ने बंद कर लिया है। उमर बड़ा हैरान हुआ—माँ कैसे उठी होंगी। कौन आया होगा? बुलाया—'माँ—माँ—और कोई है?' कोई आवाज़ न आई। फिर बुलाया। और जोर से बुलाया, 'माँ—कौन है भीतर? खोलो जल्दी।'

उमर ने दवाएँ दरवाज़े पर रख दीं। मकान नीचा था ही। बगल की दीवारें खास तौर से नीची थीं। उमर कूद-फाँद में एक था। झट दीवार को कूद गया। आँगन में पहुँचा। माँ—माँ—कहता हुआ बाहर वाले कमरे में झपटा, इसी में अज़मतुन की चारपाई रहा करती थी। कमरे में अँधेरा था। बाहर का दरवाज़ा खोला। चारपाई पर नज़र गई कि चिल्ला पड़ा:—

अरे, खून—माँ—माँ—अरे छुरी—गले में—अरे माँ—किसने—अरे यह तो अब्बा वाली—किसने भोंका—माँ—माँ—खुद क्या—अरे—क्यों अरे माँ—अं—अं—आँ—

एकाएक काग़ज़ पर दृष्टि पड़ी।

'अरे यह तो माँ का लिखा........'

काग़ज़ को उठा लिया। पढ़ने लगा। आँखों में आँसू भर-भर आते। उमर उनको पोंछता जाता, पढ़ता जाता।

"प्यारे बेटा उमर, सलामत रहो। मैंने खुद-कुशी कर ली है। मुझे मरने में बड़ी खुशी हुई। रंज सिर्फ इस बात का था कि तुम्हें अब न देखूँगी। जब मादरे अफ़ग़ानिस्तान को उसके बच्चे-बच्चे की ज़रूरत है मैं तुम्हें अपने पास रोकना नहीं चाहती। क्या अफ़ग़ानिस्तान मेरी माँ नहीं है? उसके लिए मैं क्या कर सकती थी? मैं सिर्फ तुम्हें उसे दे सकती थी। मैं फ़िज़ूल जीकर तुम्हें रोक रही थी। इसीसे मैंने अपनी जान दी। मेरे मरने से कुछ नुकसान न होगा। प्यारे उमर, तुम मेरे मरने का अफ़सोस न करना। तुम्हें अब मैं एक बड़ी माँ की गोद में सौंप रही हूँ। तुम अब उस माँ की खिदमत करना। खुदावंद क़रीम तुम्हारे बाजुओं में ताक़त दे कि तुम अफ़ग़ानिस्तान के दुश्मनों को जल्दी हराओ। अल्ला तुमको उमरदराज़ करे। मैं तुम्हें दुआ देती हूँ।"

पत्र को एक बार पढ़कर, उमर फिर उसे पढ़ने लगा।

संकोच-त्याग*

जिस समय बसंत ने बी० ए० पास किया था उसी समय से लोग उसके विवाह के लिए उसकी माँ को मजबूर करने लगे थे। बसंत था तो ग़रीब पर लोग उसकी शिक्षा और उसके शील-स्वभाव पर लट्टू थे। उसे छात्र-वृत्ति मिली थी। इस शानदार कामयाबी ने इरादे ऊँचे कर दिए थे। उसका इरादा था कि वह एम० ए० तक पढ़कर किसी कालिज में प्रोफ़ेसरी करे। बिना अपने आदर्श तक पहुँचे वह अपनी शक्तियों को किसी और दिशा में बिखरने नहीं देना चाहता था। इस बात के उसे कई उदाहरण मिल चुके थे कि बहुत उच्च श्रेणी के लड़के भी विवाह करते ही बहुत नीचे गिर जाते हैं। इस कारण वह विवाह नहीं करना चाहता था। उसके विवाह न करने का एक और कारण था। वह जानता था कि विवाह में एक अच्छी रक़म खर्च हो जाएगी और फिर एक आदमी का खर्च और बढ़ जाएगा। वह उसके लिए तैयार न था। उसकी माता तो ब्याह के लिए हर समय तैयार रहती थी; पर उसकी इच्छाओं की वे कभी अवहेलना न करती थीं।

बसंत के सबसे ज़्यादा पीछे पड़े थे, लाला अंबाशंकर। वे इसी गली के एक मकान में रहते थे, जीवन का उन्हें कुछ कटु अनुभव था। उनके एक ही कन्या थी। स्त्री के मरने पर उन्होंने अपना दूसरा विवाह न किया था। उनकी इच्छा थी कि जितनी जल्दी हो सके वे अपनी कन्या का विवाह करके किसी लंबी तीर्थ-यात्रा को निकल जायँ। बसंत उनकी आँखों में जँच गया था। उन्होंने बसंत की माँ से अपने

---

* हंस—सितम्बर, १६३१

यहाँ की महरी और महराजिन के द्वारा बातचीत करना आरंभ किया। यद्यपि बसंत की माँ उसके विचारों को पूर्ण-रूप से जानती थी, फिर भी पुत्र-विवाह संबंधी बातें करने में उसे बड़ा आनंद आता था। वहू के रूप-गुण के विषय में भाँति-भाँति के प्रश्न करती, दान-दहेज की चर्चा भी आ जाती। लाला ने समझा कि अब पड़ाव मार लिया। एक दिन क़लमी-आमों की एक टोकरी सौगात भेजी। बसंत ने देखा मामला बढ़ता जाता है तो उसने माँ से साफ़ कह दिया—'मैं अभी चार वर्ष विवाह का नाम न लूँगा।' अंबाशंकर ने यह सुना तो निराश हो गए। उसी दिन से यह सिलसिला बंद हो गया।

एक दिन की बात है कि पानी दिनभर खूब बरसा था। बसंत की गली में खूब कीचड़ हो गया था। सिर्फ़ किनारे-किनारे थोड़ी सी जगह थी। चार-साढ़े चार का वक्त था। बसंत अपने कमरे के सामने वाले बरामदे में टहल-टहलकर पढ़ रहा था, उसने देखा कि सड़क की ओर से एक बड़ी सुंदर लड़की कंधे पर छाता लटकाए चली आ रही है। हाथों ने चट किताब बंद कर दी। आँखें तो उस लड़की की ओर इतनी आकर्षित हो गई थीं कि उन्होंने अपना स्वभाव-जन्य साधारण कर्तव्य—यह देखना कि किस स्थान तक पढ़कर किताब बंद की गई—भुला दिया। बसंत के जीवन में शायद यह पहला अवसर था कि जब उसने किसी नव-युवती को इतने ग़ौर से देखा था। एकाएक वह चारों ओर पल-भर में देख गया कि उसे कोई देख तो नहीं रहा है। एक पतंगे की भाँति जो चारों ओर घूमकर फिर दीपक की लौ पर आ गिरता है—बसंत की पुतलियाँ चारों ओर घूमकर उसी नवयुवती के मुख मंडल पर आ गड़ीं। वह बसंत के मकान के सामने पहुँची ही थी कि पानी फिर बड़े ज़ोरों से आ गया। उसके एक हाथ में किताबें थीं। किताबें बग़ल में दबाकर वह दोनों हाथों से छाता खोलने का प्रयत्न करने लगी। जल्दी में छाता भी न खुला और किताबें भी बग़ल से खिसक

पड़ीं। बसंत दौड़कर उसके पास पहुँचा। उसकी किताबें समेटते हुए उसने उससे कहा—"आप थोड़ी देर के लिए बरामदे में रुक जाएँ। पानी जल्दी ही निकल जाता है।"

वह चली आई। बसंत को उसे बरामदे में बिठालना कुछ अनुचित-सा लगा। उसने अपना कमरा खोल दिया। लड़की ने अपना छाता ठीक से बंद किया। एक तीली उसके बालों में उलझ गई थी जिससे उसके कई बाल टूट टूटकर ज़मीन पर गिर पड़े। वह कुर्सी पर बैठ गई। बसंत मेज़ पर पैर लटका कर बैठ गया और लगा उस लड़की की किताबों और कापियों को उलटने-पलटने। कापियों पर स्कूल का नाम—'गर्ल्स मिशन हाई स्कूल' लिखा था। एक किताब पर उसका पता लिखा था—

Miss Prabha,
C/o Mr. Amba Shankar
277, Arora lane,
Station Road,
Cawnpore.

बसंत को कुछ पहले ही से यह शंका हो गई थी कि शायद यह लाला अंबाशंकर की लड़की है। आज गली में पहिया फँस जाने के भय से गाड़ी वाला इसे सड़क ही से उतारकर लौट गया पर अब तो निश्चय हो गया। उसकी आँखें तो दर्शन-धन बटोरने में यह मनाती हुई लग गईं कि हे भगवान थोड़ी देर और बरसो पर हृदय भय से धक-धक कर रहा था कि कहीं माता जी या कोई और न आ जाए। एक जी कहता था कि प्रभा बैठी रहे तो अच्छा है; एक कहता—प्रभा चली जाए तो अच्छा। एक ही मनुष्य में एक ही समय दो परस्पर विरोधात्मक भाव! फिर हमें तर्क-शास्त्र यह क्यों बतलाता है कि

दो परस्पर विरोधात्मक भावों का अस्तित्व ही नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद है। संभवतः शास्त्र और विज्ञान जीवन की जिस हद तक थाह ले सकते हैं, वह उससे कहीं गहरी वस्तु है। जल्द ही पानी धीमा हो चला। वह बोली—अब मैं जाऊँगी, देर होगी, तो पिता जी नाराज़ होंगे।

बसंत ने पूछा—'आप अपने पिता जी से बहुत डरती हैं?'

वह बोली—'बहुत!'

उसने किताब उठाई, छाता ताना और प्रणाम करके चलते-चलते कहा—कृपा के लिए धन्यवाद। बसंत ने भी प्रणाम के लिए हाथ उठाया, पर वह कुछ बोल न सका। कुछ देर वह उसी की ओर देखता खड़ा रहा। एक बार वह फिर पीछे फिरी। बसंत और प्रभा की आँखें चार हुईं। वह आँखों से ओझल हो गई।

कमरे में आते ही जो पहला काम बसंत ने किया, वह उन बालों को इकट्ठा करना था, जो प्रभा के छाते से टूटकर गिर पड़े थे। उसके मुँह से अंग्रेज़ी कविता की यह लाइन निकल पड़ी—And beauty draws us with a single hair और उसने उन बालों को चूमकर उन्हें हिफ़ाज़त से रख लिया।

बसंत कुर्सी पर बैठकर सोचने लगा—वास्तव में इंद्रलोक की परी है, पर है तो अब मुझे क्या? सुंदर स्त्री बड़े भाग से मिलती है। मैंने ऐसी स्त्री को पाकर अपनी ज़िद से छोड़ दिया। अब मुझे ऐसी स्त्री काहेको मिलेगी? क्या उसके पिता उसे चार वर्ष तक कुमारी रख सकेंगे? मैंने क्यों चार बरस ब्याह न करने की प्रतिज्ञा कर ली? क्या स्त्री मना कर देती कि पढ़ो-लिखो मत। एक सुंदर स्त्री घर में हो तो मैं और पढ़ूँ। जब पढ़ने-लिखने से ऊबूँ, तो उसके पास बैठकर दो-चार बातें कर लूँ और दिमाग़ फिर ताज़ा हो जाय; पर अब क्या हो

सकता है ? माता जी से फिर तो कह नहीं सकता कि अच्छा, अब मैं जल्दी विवाह करने को राज़ी हूँ। अवश्य ही वह मन में सोचेंगी कि इतनी जल्दी कौन सी ऐसी बात हो गई कि मैं विवाह करने को लौट पड़ा। अरे! बड़े शर्म की बात होगी। फिर अब माँ को ही अपनी ओर से कहलाना पड़ेगा कि वे विवाह करने को राज़ी हैं। लालाजी भी कहेंगे कि इनकी माँ भी कैसी हैं कि घड़ी में कुछ कहती हैं और घड़ी में कुछ। फिर माँ कहेंगी भी नहीं। लड़के वाला ब्याह के लिए लड़की वाले से नहीं कह सकता। एक बार यदि लाला अंबाशंकर फिर शादी का प्रस्ताव करते......

× × × ×

उस दिन की घटना बसंत के हृदय-सरोवर में पहली हिलोर थी। जीवन-नौका हिली-डुली, आगे बढ़ी, पीछे हटी। नाविक कुछ घबराया। दिशाओं का उसे कुछ देर तक परिज्ञान न रहा। निर्दिष्ट चिह्न भी थोड़ी देर के लिए उसने छोड़ दिया। पर कुछ समय पश्चात झकोरे हल्के, और हल्के होने लगे। वह फिर अपने पहले वाले मार्ग पर आ गया। पर, उसके चित्त को अभी विचलित करने वाली एक चीज़ बाकी थी। वह थी इन झकोरों की स्मृति। बसंत अभी जीवन से अन-भिज्ञ था। वह समझता था कि यह स्मृतियाँ भी एक दिन धुँधली होकर अदृष्ट हो जाएँगी; पर बात ऐसी नहीं हुई। स्मृतियाँ अमर हैं। उनमें दिन-दिन रंग चढ़ने लगा। प्रभा तो बसंत के यहाँ एक ही बार आई थी और कुछ ही मिनटों तक बैठी थी पर उसकी स्मृतियाँ प्रभा को जब चाहतीं तब अपने कमरे में बुला लातीं और घंटों बिठाल रखतीं।

बसंत सोचता कि क्या प्रभा को भी उसकी इतनी याद आती होगी ? उसका हृदय कहता—अवश्य। उसकी कल्पना सत्य थी। एक

दिन संध्या समय जैसे ही प्रभा की गाड़ी की चुरमुराहट उसे सुनाई पड़ी, वह अपने कमरे से एक किताब हाथ में लेकर निकला और बरामदे में पढ़ने का बहाना-सा करते हुए टहलने लगा। जैसे ही गाड़ी उसके मकान के सामने आई, गाड़ी का एक पर्दा खुला और उसने प्रभा को प्रणाम करते देखा। बसंत का भी हाथ उठ गया। कोई उसके हृदय में कह पड़ा कि प्यारी प्रभा प्रतिदिन सुबह शाम, इसी तरह पर्दे को उठाकर और निराशापूर्ण नयनों से देखकर चली जाती होगी। आज उसकी अभिलाषा पूर्ण हुई। उस दिन से बसंत का नित्य का नियम हो गया कि प्रभा की गाड़ी जब आती तब वह अपने बरामदे में चला आता और प्रभा के दर्शनों का अपूर्व सुख उठाता।

पर प्रभा और बसंत का प्रेम इन झाँकी-दर्शनों तक ही परिमित न रहा। प्रेम जहाँ खड़ा होने की जगह पाता है, वहाँ बैठने की जगह पाने का प्रयत्न करने लगता है। इस विषय में संभवतः प्रेम का नंबर अंग्रेज़ों से भी बढ़ा-चढ़ा है। बसंत और प्रभा में परस्पर पत्र-व्यवहार भी होने लगा। जब प्रभा को बसंत के पास कोई पत्र भेजना होता, तो वह पत्र को लिखकर उसे मींज-मरोड़कर एक रद्दी काग़ज की तरह गाड़ी से गिरा देती। और जब गाड़ी चली जाती तब बसंत जाकर चुपके से उसे उठा लाता। बसंत की गली में लोगों की आवा-जाही इतनी न रहती थी कि कोई उसे काग़ज़ उठाते देख लेता। बसंत को जब उत्तर लिखना होता, तो वह भी जब गाड़ी को आते देखता, उसी तरह पत्र को सड़क के आगे फेंक देता और प्रभा को इशारा कर देता। गाड़ी वहाँ पहुँचती, तो कभी वहाँ प्रभा की पेंसिल गिर पड़ती और कभी उसका इंसट्रूमेंट-बाक्स। प्रभा उतरती और इन चीज़ों को उठाने के बहाने पत्र को भी उठा ले जाती।

प्रभा और बसंत कोई असाधारण प्रेमी न थे। उनके पत्रों में भी

वही बातें रहा करतीं थीं जिनसे प्रायः सभी प्रेमी-गण पेज-के-पेज रँगा करते हैं। पहले तो पत्रों में हेर-फेर कर यही बातें रहा करती थीं कि किसने किसको पहले प्रेम करना आरंभ किया, और कैसे प्रेम करना आरंभ किया और कौन किसको ज़्यादा प्रेम करता है। लोग प्रेम क्यों करते हैं? क्या प्रेम कभी टूट सकता है, और वे क्या एक दूसरे को सदा एक समान प्रेम करते जायँगे? पश्चात के पत्रों में वे एक दूसरे के वियोग में दुखी होते, एक दूसरे की याद करते और रात में एक दूसरे को स्वप्न में देखते। परस्पर चित्रों के परिवर्तन भी हुए। मामला और आगे बढ़ा, तो पत्रों में इस बात की चर्चा चली कि यदि उन दोनों का परस्पर विवाह न हुआ तो एक दूसरे को कैसे प्यार करेंगे। कभी वसंत अपने चार बरस तक विवाह न करने की प्रतिज्ञा पर पश्चात्ताप प्रकट करता, कभी प्रभा अपने पिता की उसे जल्दी ब्याह देने की इच्छा पर चिंता दिखलाती। कभी एक दूसरे से इस बात पर परामर्श करते कि वे अपने विचार अपने माता-पिता से स्पष्ट रूप से क्यों न प्रकट करदें; पर हिम्मत किसी में न थी। एक को लज्जा लगती तो दूसरे को शर्म मालूम होती थी।

प्रभा के पिता वसंत की माँ से जवाब पाकर चुप न बैठे थे। और-और जगह ब्याह लगाने की फ़िक्र में थे। जब कहीं से जन्मपत्री आती और प्रभा के पिता उसे देख-भाल कर चिट्ठी-पत्री लिखते तो उसे बड़ी चिंता होती। वह स्वयं अपने पिता से तो कुछ न पूछ सकती थी पर महराजिन से उन सब बातों का पता लगता रहता था। इस विषय में महराजिन ही उसके पिता की प्राइवेट सेक्रेटरी थीं। एक दिन की बात है कि वसंत को प्रभा का एक पत्र मिला। पत्र था—

"प्यारे वसंत,

प्यार, महराजिन से मुझे पता लगा है कि मेरा व्याह जबलपुर के एक व्यक्ति से होना निश्चय हो गया है। और शीघ्र ही पिता जी पंडित जी को बरिच्छा लेकर वहाँ भेजेंगे। प्यारे, पहले तुमने ही मुझे अपनी शरण में लेकर अपनी प्रेम-पात्री बनाया था। वह दिन याद है? मैं आज भी तुम्हारी शरण में हूँ। क्या तुम आज मुझे अपनी शरण से हटा दोगे? मैं तुम्हारी हूँ, मुझे किसी और की होने से बचाओ। मैं असमर्थ हूँ, यह तो तुम जानते ही हो।

तुम्हारी प्यारी—
प्रभा

प्रेमी बड़ा आशावादी होता है। बसंत समझता था कि यदि प्रभा का उसके लिए और उसका प्रभा के लिए सच्चा प्रेम होगा, तो संसार की कोई शक्ति उन्हें अलग न कर सकेगी। वह समझता, एक साल बीत ही रहा है, दो-तीन साल और बीत जायँगे। प्रभा का विवाह कहाँ जल्दी लगा जाता है। हम दोनों का विवाह फिर तो निश्चित है। जब उसे यह पत्र मिला, तो उसकी आशा का स्वप्न ऐसा भागा जैसे सूर्य की किरणों से कुहरा भाग जाता है। वह अपने सामने एक व्यावहारिक संसार देखने लगा, जो आदर्शवादियों के संसार से बिलकुल भिन्न था। साक्षात् उसकी वस्तु एक दूसरा लिए जा रहा था; पर यदि वह शोर मचाता तो वही चोर बन जाता, और चोर, शाह। अजीब उल्टी दुनिया है। उसे कुछ सूझ न पड़ता था कि क्या करना चाहिये। प्रभा ने रुक्मिणी अथवा संयुक्ता के समान पत्र भेजा था; पर बसंत न कृष्ण था और न पृथ्वीराज।

लाला अंबाशंकर हाथ पर हाथ रख कर भाग्य के भरोसे बैठने वाले आदमी न थे। इधर से जवाब पाते ही उन्होंने दूसरे घरों से

बात-चीत शुरू कर दी और अंत में जबलपुर में एक जगह बात पक्की करके लग्न भेजने की तैयारी कर रहे थे।

सहसा प्रभा आकर उनके समीप खड़ी हो गई। अंबाशंकर ने पूछा—'क्या है बेटी, मुझसे कुछ कहना चाहती हो ?

प्रभा ने सकुचाते हुए कहा—'मैं आपसे एक प्रार्थना करने आई हूँ। आज्ञा हो तो कहूँ।

अंबाशंकर ने संदिग्ध स्वर में कहा—'क्या कहती हो, कहो।'

'यह मेरी धृष्टता है पर आशा है आप मुझे माफ़ करेंगे। आप मेरे पूज्य हैं, मैं जानती हूँ कि आप जो कुछ भी करने जा रहे हैं वह मेरे ही उपकार के लिए; लेकिन मैं अभी विवाह नहीं करना चाहती। मैं अभी दो-चार साल और पढ़ना चाहती हूँ। गृहस्थी में पड़कर मेरा पढ़ना छूट जायगा और मैंने जीवन की जो धारणाएँ बना ली हैं वह नष्ट हो जायँगी। मैं आप की तीर्थ-यात्रा में बाधा नहीं देना चाहती। आप मुझे छात्रालय में भेज दें। मुझे वहाँ कोई कष्ट न होगा। मैं बड़ी किफ़ायत से रहूँगी। आप को विशेष चिंता न करनी पड़ेगी। मैंने विवश होकर यह निर्लज्जता की है। मुझे इसके लिए क्षमा कीजिये।'

अंबाशंकर ने खिन्न होकर कहा—'कितने दिन और पढ़ना चाहती हो।

'चार वर्ष'।

'चार वर्ष' ?

'मैं एम० ए० होना चाहती हूँ' !

'एम० ए० होकर तुम्हें क्या करना है। मैं समझता हूँ कि जितना तुम पढ़ चुकी हो उतना तुम्हारे लिए काफ़ी है।'

'अभी तो मैंने कुछ भी नहीं पढ़ा।'

'अच्छा मैं सोचूँगा ।'

× × × ×

एक अठवारा बीत गया ।

बसंत चिंताकुल बैठा हुआ सोच रहा था, क्या करूँ । विवाह हो जाने पर भी तो पढ़ सकता हूँ । क्या प्रभा कुछ दिनों कष्ट उठाने के लिए तैयार न होगी ।

उसने सोचा क्यों न आज ही लाला अंबाशंकर के पास जाकर कह दूँ कि मैं राज़ी हूँ । माना कि छात्र-जीवन और गृहस्थ-जीवन में बहुत बड़ा अंतर है । लेकिन प्रभा जैसी स्त्री के लिए यदि छात्र-जीवन का अंत भी करना पड़े तो क्या हर्ज । विद्याध्ययन का उद्देश यही तो है कि जीवन सुखी हो । सुखी जीवन के लिए प्रभा जैसी स्त्री से बढ़कर और क्या वस्तु हो सकती है ।

वह इसी चिंता में बैठा हुआ था कि प्रभा आकर खड़ी हो गई । वह हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ । प्रभा ने खड़े-खड़े कहा—"मैंने तो आज दादा जी से कह दिया ।" बसंत ने प्रश्न की आँखों से उसकी ओर देखा । "पिता जी को अब मेरे विवाह की जल्दी नहीं है ।"

बसंत ने खुश होकर पूछा—'क्या अब तीर्थ करने न जायँगे ?'

प्रभा बोली—जायँगे तो लेकिन मुझे बोर्डिंग-हाउस में छोड़ जायँगे । मैं भी पढ़ती रहूँगी, तुम भी पढ़ते रहना ।

जब हम दोनों सरस्वती से बरदान पा चुकेंगे तो……प्रभा और आगे न बोल सकी ।

बसंत ने गदगद होकर कहा—'धन्य हो प्रभा । तुमने मेरा बेड़ा पार लगा दिया मैं तो डूबा जाता था । अब मेरा जीवन सुफल हो गया, मगर अपने दादा से यह कहते हुए तुम्हे शर्म तो बहुत आई होगी ?

प्रभा ने कहा—'शर्म की तो कोई बात न थी। जहाँ शर्म न करना चाहिए वहाँ शर्म करने ही से तो हमारा जीवन नष्ट हो जाता है। दादा जी को तो यही भ्रम होगा कि मैं विवाह न होने से दुखी हूँगी, शायद मन में उन्हें कोसती हूँगी कि मेरा विवाह क्यों नहीं करते, अपनी अन्य बहनों का ब्याह होते देखकर मुझे भी विवाह की लालसा होगी। जब मैंने उनसे स्पष्ट अपने मन की बात कह दी तो उनका भ्रम मिट गया। संकोच करते तो कितना बड़ा अनर्थ हो जाता।

———

अंचल का बंदी*

शहर के एक किनारे पर उसकी कोठी थी। वह हिंदुस्तान के बड़े-बड़े महाजनों में गिना जाता था। दैव योग से उसके सब भाई-बंधु मर गए। मनोरमा ही उसकी अकेली संतान थी। मनोरमा की माता उसके बचपन में ही मर गई थी। सेठ मोहनचंद के धन का कुछ ठिकाना न था। उसके मरने के बाद मनोरमा ही इस सब धन की अधिकारिणी होगी। सेठ लड़कों के न होने के कारण अपनी लड़की को लड़के ही जैसा प्यार करता था। मनोरमा को वह लड़कियों के बजाय लड़कों की पोशाक में रखता था। पुत्रवान होने की कुचली हुई अभिलाषा मनोरमा की मर्दानी लिबास में बहुत दिनों तक दिखाई दी। मनोरमा मोहनचंद की वृद्धावस्था में प्राप्त हुई कन्या थी। अभी कन्या दस-ग्यारह वर्ष की हुई होगी कि सेठ को शारीरिक दुर्बलता ने घेरना शुरू कर दिया। जीने की इच्छा किसे नहीं होती? सेठ चाहता था कि वह तब तक तो कम से कम जीवित रहे, जब तक उसकी कन्या बालिग़ होकर सब धन पर अधिकार न प्राप्त करले।

पर समय यदि हर मनुष्य का सुभीता देखकर काम करता तो संसार में कोई दुखी ही क्यों होता। सेठ ने देखा कि उसका शरीर गिरता ही जा रहा है। उसे मरने का इतना भय नहीं था, जितना अपनी कन्या को अकेली छोड़ने का। उसके मन में यह प्रश्न बार-बार उठता था कि मरने के समय वह अपनी कन्या किसको सौंपे। उसे केवल एक ही

---

* माधुरी—जुलाई, १९३२

मनुष्य ऐसा दिखाई पड़ता था, जिसके हाथों में वह अपनी कन्या निः-संकोच सौंप सकता था और वह था उसका मुनीम—हीराचंद।

हीराचंद बड़ा मेहनती आदमी था। उसने मोहनचंद के साथ छोटी उम्र से काम किया था। लाखों रुपये का हिसाब उसके हाथ में रहता था, पर कभी एक पाई का फ़र्क न आया। हीराचंद के भी कोई न था और वह मोहनचंद के साथ ही रहता था। बाहर वालों को प्रायः इस बात का धोखा हो जाता था कि हीराचंद मोहनचंद का भाई है। हीराचंद सदा अपने मन की ही करने में प्रसन्न रहता था। उसकी इच्छाओं के सामने कभी-कभी मोहनचंद को भी सिर झुका देना पड़ता था; क्योंकि आदमी सच्चा और वफ़ादार था। वह अधिकार चाहता था, अधिकार से लाभ उठाने की उसकी कभी अभिलाषा न होती थी। मोहनचंद हीराचंद की ईमानदारी से इतने प्रसन्न थे कि कभी-कभी उनकी तुलना हरिश्चंद्र से करने के लिए उन्हें बजाय हीराचंद के हरीचंद कहते थे। अपने मरने पर मोहनचंद अपनी लड़की को उसी आदमी की संरक्षता में छोड़ना चाहते थे।

सेठ बीमार पड़ गए। हज़ारों रुपए दवा-दरमत में खर्च हो गए, पर उनकी दशा न सुधरी। सेठ सोचने लगे, शायद अब न बचेंगे। एक दिन उन्होंने मनोरमा को अपने पास बुलाया। हीराचंद भी वहीं बैठा था। मनोरमा की ओर देखकर सेठ की आँखों में आँसू आ गए। हीरा-चंद ने उनके आँसू पोंछते हुए कहा—"क्यों मन छोटा करते हो? अच्छे हो जाओगे। बिटिया को दुखी करना ठीक नहीं।"

सेठ बोले—"मुझे अब जीने की आशा नहीं है। मेरी शक्ति पल-पल क्षीण हो रही है। इससे मैं चाहता हूँ कि जो कुछ कहना है, जल्द कह दूँ, शायद मेरी ज़बान बंद हो जाय।"

सेठ कुछ देर के लिए रुके। चारपाई पर बैठी मनोरमा के सिर

पर हाथ फेरते हुए बोले—हीराचंद अब शीघ्र ही हमारा तुम्हारा सदा के लिए वियोग होगा। और बेटी, अब तेरे पिता हीराचंद हैं। मैं अब अधिक दिन नहीं जीऊँगा।" मनोरमा पिता के गले से लिपटकर रोने लगी।

हीराचंद ने लड़की को खेलने के लिए बाहर भेज दिया। मोहनचंद ने हीराचंद को लड़की की शिक्षा, सदाचार, विवाह आदि के विषय में आदेश किया और फिर धन और जायदाद संबंधी बातें कीं। हीराचंद ने अपने मालिक को विश्वास दिलाया कि वह तन-मन से मनोरमा की रक्षा करेगा। और अवस्था प्राप्त होने पर उसका विवाह किसी उच्च कुल में करके सारी जायदाद उसे सौंप देगा।

इसके पश्चात एक दिन सेठ मोहनचंद का स्वर्गवास हो गया।

× × × ×

सेठ नूतन विचारों का आदमी था। उसने हीराचंद से यह कह दिया था कि मनोरमा जितनी भी ऊँची शिक्षा पाना चाहे उसे दिलाने की सुविधा दी जाय। इसी प्रकार विवाह की भी कोई जल्दी करने की उसकी इच्छा न थी। विवाह मनोरमा की ही इच्छा से होने को था। हीराचंद ने मनोरमा की शिक्षा का बड़ा अच्छा प्रबंध किया। स्कूल में तो पढ़ने जाती थी ही, घर पर भी शिक्षिकाएँ आकर उसे पढ़ातीं और संगीत तथा अन्य कलाओं की शिक्षा देतीं। एक सुयोग्य अध्यापिका दिन-रात उसकी संरक्षिका के तौर पर रहती थी। हीराचंद स्वयं अपना सारा अनुभव उसकी निगरानी में लगाता था। सेठ मोहनचंद से भी अधिक उसको मनोरमा के मंगल और उन्नति की चिंता रहती थी। वह अपना उत्तरदायित्व खूब समझता था और उसे अच्छी तरह निभाता था।

इसका परिणाम यह हुआ कि मनोरमा हर साल पास होती गई।

अब उसकी अवस्था लगभग सत्रह वर्ष की हो गई। उसने एफ़० ए० पास कर लिया। मनोरमा ने पास होने पर एक बड़ी दावत की और अपने कालिज की सब अध्यापिकाओं और सहेलियों को आमंत्रित किया। जब यह सब खतम हो गया तो एक दिन हीराचंद ने मनोरमा को गद्दी पर बुलाया और सब नौकरों-चाकरों को हटाकर कहा—"बेटी, तुम्हें वह दिन याद है जब तुम्हारे पिता ने तुमको मुझे सौंपा था। तुमने अब बहुत ऊँची शिक्षा प्राप्त कर ली। अब मेरी इच्छा है कि तुम्हारा ब्याह कर दूँ। मुझे अपना पिता ही समझो और निःसंकोच जो कहना है सो कहो।"

"पर मेरी इच्छा तो अभी विवाह करने की नहीं है?"—मनोरमा ने ज़रा तेज़ी से कहा।

हीराचंद ने समझा था कि विवाह का नाम सुनकर कन्या लज्जा से अपना सिर नीचे कर लेगी और चुपचाप उठकर चली जायगी, जिसका अर्थ यह होगा कि वह जैसा चाहे वैसा कर दे। लेकिन एफ़० ए० पास लड़की जिसने कालिज में लेक्चर झाड़े थे, लाजिक पढ़ी थी और इतिहास का अध्ययन किया था, कब ऐसा व्यवहार कर सकती थी? मनोरमा की बात सुनकर वह ठिठक रहा। अभी उसका आश्चर्य समाप्त न हुआ था कि मनोरमा फिर बोली—"मैं अभी और पढ़ूँगी और विवाह की आप कोई फ़िक्र न करें, पढ़ाई खतम करके मैं इसपर विचार करूँगी।"

हीराचंद अवाक् रह गया, पर लड़की की शिक्षा आदि का प्रभाव सोचकर फिर बोला—"बेटी, तुम्हें नहीं मालूम कि हमारे यहाँ विवाह कम अवस्था में ही होते हैं। तुम्हारी अवस्था की कन्याएँ कुमारी रहती हैं, तो लोग हँसते हैं।"

"विवाह कम अवस्था में होते हैं, तो अब न होंगे। जो मेरे ऊपर हँसेगा, मैं भी उसके ऊपर हँसूँगी।"

"देखो कलकत्ते के एक सेठ का लड़का........।"

मनोरमा बात काटकर बोली, "मैंने कह दिया कि मैं अभी विवाह की कोई बात नहीं सुन सकती।"

मनोरमा हीराचंद के उत्तर के लिए भी न रुकी, उठकर चली गई। हीराचंद ने दाँतों तले अपनी जीभ दबाई और सोचने लगा, पढ़ाने-लिखाने का यह नतीजा हुआ। क्या उसने लड़की को आवश्यकता से अधिक स्वतंत्रता दे दी, जो उसके विचार इतने उच्छृंखल हो गए। उसने विदेशी शिक्षा के दूषित प्रभाव की कहानियाँ सुनी थीं। अब उसने अपनी आँखों से देखना आरंभ किया। मनोरमा का वाक्य 'पढ़ाई खतम करके मैं इसपर विचार करूँगी' उसके कानों में खटक रहा था। रुपए की कुंजी अभी उसके ही पास थी। उसने संरक्षिका को हटा दिया, और भी अध्यापिकाओं को छुड़ा दिया। पर वह उसका कालिज में दाखिल होना न रोक सका। कालिज का वातावरण उसके विचारों को पुष्ट करने में और भी सहायक हुआ। साथ ही साथ नवीन सभ्यता के आमोद-प्रमोद जैसे—टेनिस खेलना, सिनेमा जाना आदि भी आरंभ हुए। महीने-पंद्रह दिन में कोठी पर चाय पार्टी होती, जिसमें मनोरमा के कालिज के सहपाठी और प्रोफेसर लोग भी सम्मिलित होते। हीराचंद को यह सब फूटी आँखों न सुहाता, पर क्या करता। जितना वह इन बातों से चिढ़ता, मनोरमा उसे उतना ही और चिढ़ाती। बूढ़ा चाहता था कि मनोरमा उसकी उँगली के इशारों पर चले और उसे अपना बड़ा समझे। मनोरमा हीराचंद को अपना नौकर समझती थी और उसके कहने का केवल इतना ही ध्यान रखती थी जितना किसी पागल या सनकी के कहने का। बूढ़े ने दो एक बार मनोरमा को विवाह के लिए ज़ोर डाला, पर उसने ऐसा उल्टा-सीधा जवाब सुनाया कि उससे कुछ और कहते न बना। अपमान सहना उसने

कभी न सीखा था। अपनी आज्ञा की अवहेलना उसे अपने मालिक के सामने भी स्वीकार नहीं थी और अब तो एक प्रकार से सोलहो आने स्वयं मालिक था। उसे मनोरमा की उपेक्षा तनिक भी न अच्छी लगती। सारी जायदाद पर लात मारकर चल देने की सोचता; पर वृद्ध हो गया था, जोश में आकर कोई काम करना उचित न समझता था। अपने मृत मालिक और मित्र के आदेशों का ख्याल करके वह अपने ग़ुस्से को दबा जाता और काम में लग जाता। ईश्वर से प्रार्थना करता कि मनोरमा ठीक मार्ग पर आकर अपना विवाह कहीं ठीक-ठिकाने से कर ले और सुख से रहे।

× × × ×

शुरू से नूतन विचार वाली योग्य अध्यापिकाओं के पास रहकर, कालिज में शिक्षा पाकर और स्वयं अध्ययन करके मनोरमा अत्यंत स्वतंत्र विचार की हो गई थी। अपने विवाह के लिए उसने यह सोचा था कि वह अपनी शिक्षा समाप्त करके करेगी। वह लीक पीटने वाला विवाह न करेगी बल्कि ऐसे मनुष्य से करेगी जिससे उसे सच्चा प्रेम हो। उसका विचार था कि बिना इस पारस्परिक प्रेम के विवाह एक व्यर्थ का बंधन होगा। और उस अवस्था में, सुख के सभी साधनों की उपस्थिति में भी जीवन दुख पूर्ण होगा। सच्चा प्रेम ही उसके विवाह की भित्ति होगी। उसे प्राप्त करके वह किसी और बात की चिंता न करेगी।

कालिज के जीवन से ही उसका लड़कों के साथ पढ़ना-लिखना शुरू हुआ, पर उसके हृदय का कोई चोर न मिला। बड़े-बड़े बुद्धिमान लड़के मिले, बड़े-बड़े तंदुरुस्त और सुंदर लड़के मिले, बड़े-बड़े धनी लड़कों से उसका परिचय हुआ, उनसे मित्रता हुई पर वह इस दर्जे तक न पहुँची कि उसमें से किसी को वह अपने जीवन का साथी चुन सके।

बहुतों ने अपने को उसके लिए अर्पण करना चाहा पर वे उसकी तराज़ू पर पूरे न उतरे और उन्हें निराश होना पड़ा। मनोरमा के धन और रूप पर कौन लट्टू न था, पर मनोरमा को सच्चे हृदय का प्रेमी कोई न मिला। उसकी आँखें उसी की खोज में रहती थीं।

प्रेम जताकर नहीं आता। एक दिन मनोरमा के जीवन में अचानक वह समय आ गया। उसका प्रेमी एक ऐसी जगह पर मिला जहाँ उसके पाने की शायद ही कोई आशा करता। वह उसे ईसाइयों के क़ब्रिस्तान के पास मिला—एक भिखारी के वेश में।

मनोरमा की बी० ए० की परीक्षा समीप आ गई थी। दिन भर पढ़ने के बाद शाम को मनोरमा पैदल ही चल पड़ी। उसकी कोठी से थोड़ी ही दूर पर एक ईसाइयों का पुराना क़ब्रिस्तान था। उसने देखा कि क़ब्रिस्तान के एक कोने पर एक नवयुवक भिखारी खड़ा है। भिखारी का क़द लंबा था। सिर पर लंबे-लंबे बाल थे, चेहरा लंबा और गोरा था, होठों और गालों पर मुलायम मुलायम बाल निकल रहे थे, आँखें बड़ी-बड़ी थीं और उनमें भावुकता भरी थी। गर्दन से लेकर उसके शरीर का सारा निचला भाग एक लंबे, मैले फटे-लबादे से ढका हुआ था। फटे हुए स्थानों से उसका गोरा शरीर झलक रहा था। मनोरमा ने ईसामसीह की तस्वीरें देखी थीं। एक पत्थर के क्रास के पास खड़ा हुआ यह मनुष्य उसे ईसामसीह के समान ही मालूम हुआ। उसने सोचा कि उसकी आँखों को भ्रम तो नहीं हो रहा है। वह उसकी ओर टकटकी बाँधे बढ़ती ही गई। उसके पास पहुँचकर उसने अपना मनीबैग खोला और फ़क़ीर के हाथ में एक अठन्नी रख दी। युवक मुसकराया। उसने अठन्नी ले ली। क्षण भर अपने दाता की ओर देखकर उसने आँखें नीची कर लीं। मनोरमा को ऐसा लगा जैसे उस अठन्नी के साथ कोई और भारी चीज़ उसके पास से निकल गई। वह कौन-सी वस्तु थी?

मनोरमा घर आई। उस फ़क़ीर की सूरत उसकी आँखों में नाचने लगी। जब कभी वह अँधेरे की ओर देखती तो वही दो कविता-भरी आँखें दिखाई देतीं और ऐसा लगता मानो वे मनोरमा को अपनी ओर बुला रही हैं। मनोरमा ने सोचा, क्या भिखारी मिस्मरेज़म जानता था कि उसने उसको मंत्रमुग्ध कर लिया। स्नेह किस मिस्मरेज़म से कम है?

मनोरमा को सोते समय भी उस भिखारी का ध्यान बना रहा। उसने स्वप्न में देखा कि वह भिखारी एक राजकुमार हो गया है। उसके गर्द भरे लंबे बाल घुँघराले और चमकीले हो गये हैं और उसका मैला फटा लबादा चमचमाता मख़मल का जामा हो गया है। फिर उसने देखा कि उस राजकुमार के साथ उसका ब्याह हो रहा है, वेद-मंत्र पढ़े जा रहे हैं, भाँवरें दी जा रही हैं, हवन हो रहा है। फिर दिखाई दिया कि एक ख़ूब सजा हुआ शयन-कक्ष है, जिसमें वही राजकुमार प्यासी आँखों से उसकी बाट देख रहा है। वह वहाँ पहुँचाई गई है और उसी राज-कुमार ने उसे सस्नेह गोद में भर कर......। उसके पश्चात वह जाग पड़ी। उसने अपनी खिड़की से झाँका, उसे ऐसे लगा जैसे वही भिखारी कहीं दूर पर खड़ा है। उस रात को उसे फिर नींद न आई। किसी तरह सवेरा हुआ।

परीक्षा के दिन थे। मनोरमा सवेरे का सारा समय पढ़ने में ही लगाती थी, पर आज वह सवेरे ही सवेरे घूमने को निकल पड़ी। क़ब्रि-स्तान पर जाकर उसे भारी निराशा हुई। भिखारी वहाँ नहीं था। वह कुछ दूर और गई, शायद यह देखने के लिए कि कहीं भिखारी और आगे न चला गया हो, लेकिन उसे भिखारी के दर्शन न हुए। वह लौटने लगी। अपने ही घर के समीप उसे भिखारी दिखाई दिया। भिखारी एक टक मनोरमा की ओर देख रहा था जैसे उसे पहचानने का प्रयत्न कर रहा हो। मनोरमा बोली—"मुझे नहीं पहचाना?"

"संध्या की दात्री"।

"हाँ"।

"कहाँ गए थे सवेरे-सवेरे ?"

"तुम्हारी खोज में।"

यह उत्तर सुनते ही मनोरमा का हृदय धड़कने लगा। मनोरमा ही सवेरे-सवेरे भिखारी की खोज में निकली थी। वह सोचने लगी, क्या भिखारी हृदय की बात जानने वाला है जो व्यंग से उसने उसी के हृदय की बात कही है। मनोरमा ने लज्जा से अपना सिर नीचे कर लिया। भिखारी ने पूछा—"और तुम कहाँ निकली थीं ?"

अब तो मनोरमा को पूरा विश्वास हो गया कि भिखारी व्यंग को स्पष्ट करना चाहता है और उसके मन की बात जानता है। उससे छिपाना कठिन है। एकाएक उसके मुँह से यही निकल पड़ा, भिखारी के ही शब्दों में—"तुम्हारी खोज में !"

भिखारी मुसकराया। मनोरमा शरमाई। उसने अपने मनीबैग से एक अठन्नी निकाली और उसके हाथों पर रख दी। जाने को हुई पर रुकी, पूछ बैठी—

"तुम स्थाई रूप से इस क़ब्रिस्तान में रहोगे ?"

"ऐसा दाता छोड़कर कहाँ जाऊँगा !"

× × × ×

मनोरमा की परीक्षा समाप्त हो गई। अब तो सुबह भिखारी, दोपहर भिखारी, संध्या भिखारी—आठों पहर भिखारी ! उसी का ध्यान मनोरमा को हर समय बना रहता। उसी के विषय में सोचना उसे अच्छा लगता। उसे अब ज्ञात हो गया कि वह उसे प्यार करती है और कदाचित् भिखारी भी...

कभी-कभी वह अपनी सारी भावुकता को छोड़कर सोचने का प्रयत्न करती—मैं क्या कर रही हूँ ? उसका मेरा क्या संबंध ? उसे मैंने अपनी दया का पात्र बनाया था; वह मेरे प्रेम का पात्र कैसे हो गया। वह उससे स्वयं प्रेम करती है या साधू ने कोई मंत्र उसपर फूँक दिया है। लेकिन मस्तिष्क अधिक समय तक बलवान नहीं रहता। हृदय की भावुकता जाग्रत होते ही वह वही स्वप्न देखने लगती जो उसने भिखारी के प्रथम दर्शन की रात्रि में देखा था। वह अपने आप कहती—"क्या वह स्वप्न संभव नहीं हो सकता ?"

उसकी मुलाकात अब भिखारी से बढ़ गई। वह भिखारी से इस बात को जानने का प्रयत्न करती कि वह कौन है ? किस जाति का है ? किस कारण उसने भिखारी का बाना पहना है ? और आगे उसका कहाँ जाने और क्या करने का विचार है ? पर, महीने भर की मुलाकात के बाद भी मनोरमा इन प्रश्नों का कोई उत्तर न पा सकी। प्रायः वह चुप ही रहता। उसका भाषण जो कुछ भी होता शिष्टतापूर्ण होता, उसका व्यवहार शिक्षित मनुष्यों जैसा होता, उसकी चितवन में आकर्षण और स्नेह झलकता। इसके पीछे सब रहस्य था।

मनोरमा के हृदय में एक प्रश्न उठा। उसने जब-जब तंदुरुस्त भिखारियों को अपने द्वार पर देखा था, तब-तब उसने कहा था कि तुम कोई काम क्यों नहीं करते ? यहाँ तक कि उसने अपने यहाँ इस बात की सख्त ताकीद कर दी थी कि उसके द्वार पर कोई भी तंदुरुस्त और नौजवान आदमी भीख न माँग पाए। पर, अपना वह प्रश्न इस नौजवान भिखारी के सामने वह भूल गई थी। प्रेम में मनुष्य इसी प्रकार अपने सिद्धांतों को भूल जाता है। आज उसने सोचा कि यही प्रश्न वह अपने भिखारी से भी करेगी। दूसरे दिन शाम को जब वह भिखारी के पास गई तो उसने पूछा—"क्यों भिखारी, तुम भीख क्यों माँगते हो, काम क्यों नहीं करते ?"

"तुम अपने यहाँ काम दोगी ?"

"हाँ-हाँ !"

"और मज़दूरी क्या दोगी ?"

"जो तुम चाहोगे ।"

"जो ?"

"हाँ ।"

"मनोरमा ने थोड़ा रुककर पूछा,—"और तुम काम कौन-सा करोगे ?"

"जो तुम कहोगी ?"

"जो ?"

"हाँ ।"

मनोरमा को इस बात की प्रसन्नता हुई कि अब वह अपने प्रेमी को दिन-रात अपने साथ रक्खेगी और इस अवस्था में उसे उसके विषय में और बातें जानने का सुभीता होगा। वह भिखारी को अपने साथ लाई। उसे आज्ञा दी कि वह अपने बाल क़ायदे से बनवाए और स्नान करके नए कपड़े पहने। भिखारी ने कुछ इनकार किया। मनोरमा ने कहा—यही तुम्हारे लिए काम है। तुमने प्रतिज्ञा की है कि मेरी सब आज्ञा मानोगे। भिखारी मान गया। स्नान करके स्वच्छ वस्त्रों में जब वह मनोरमा के सामने उपस्थित हुआ, तो उसे अपने स्वप्न का राज-कुमार याद आ गया। भिखारी ने पूछा—"अब मेरा काम ?"

"तुम्हारा काम यह है कि जहाँ मैं रहा करूँ, वहाँ तुम भी रहा करो, जहाँ मैं जाया करूँ, तुम भी चला करो।"

कमरे की अंग्रेज़ी सजावट के वातावरण का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि भिखारी के मुख से निकल पड़ा—'थैंक्स' !

मनोरमा पूछ उठी, "हैं, क्या तुम अंग्रेज़ी भी जानते हो ? व्यवहार से तुम पढ़े-लिखे जान पड़ते हो, पर अंग्रेज़ी भाषा का भी तुम्हें ज्ञान है, यह मैंने अब जाना।"

भिखारी ने कुछ उत्तर न दिया। धीरे से एक रहस्यपूर्ण हँसी हँसकर सिर नीचा कर लिया।

मनोरमा सोचने लगी, सचमुच उसने गुदड़ी में से लाल ढूँढ निकाला। वह उसका......होने योग्य है।

कोठी के नौकर-चाकर सभी को यह पता लग गया था कि बीबीजी एक भिखारी को लाई हैं और उसे भलामानुस बनाकर अपने पास रख लिया है। हीराचंद को जब यह समाचार मिला कि वह नौजवान भिखारी अब बाबू बना हुआ मनोरमा के कमरे में बैठा है, तो उसे बड़ा अचंभा हुआ। वह मनोरमा के कमरे में पहुँचा। उसे देखते ही युवक कुछ सकपकाया, पर अपने स्थान से न हटा। हीराचंद ने भी अक्सर उस भिखारी को क़ब्रिस्तान के पास देखा था। आते ही उसने उस भिखारी से पूछा—"क्यों बे, तू यहाँ कैसे आया ?"

उसने बिना कुछ उत्तर दिए मनोरमा की ओर संकेत किया। हीराचंद का अपमान जनक संबोधन उसके हृदय में तीर की तरह लगा। उसने तनिक क्रोध के साथ हीराचंद को देखा। हीराचंद ने उसकी ओर कड़ी दृष्टि करके पूछा—"क्यों जी, यह कौन आदमी है ?"

"भिखारी था, मैं इसे अपने यहाँ नौकर रक्खूँगी। तब भीख माँगकर खाता था, अब काम करके खायगा। मेरे कमरे की देख-भाल करेगा।"

"इस आदमी को तुम नौकर नहीं रख सकतीं। नौकर-चाकर रखने का काम मेरा है। यह तो बाबू मालूम होता है। भिखारी का वेश सिर्फ़ बनाए था। देखती नहीं हो, कैसी बदमाश की-सी आँखें हैं। यह कोई लुटेरा डाकू है। इसी वक्त इसे निकाल बाहर करो।"

"लुटेरा नहीं, किसी भले घर का है। भाग्य के फेर से भिखारी हो गया है। मैं इसकी कुछ सहायता करना चाहती हूँ।"

"सहायता करना चाहती हो तो दस-पाँच रुपए देकर हटाओ। इसका घर में रहना और तुम्हारे पास, मैं नहीं बर्दाश्त कर सकता।"

"वह मेरे ही पास रहेगा, तुम इसे नहीं निकाल सकते।"

हीराचंद ने देखा कि मनोरमा का गुस्सा बढ़ता जा रहा है तो उसने शांति से काम लेना चाहा। मनोरमा को अलग लिवा ले गया, और उसके कान में चुपके-चुपके कहने लगा—"बेटी तुमने अभी दुनिया नहीं देखी। अनजान आदमी को घर में रख लेना ठीक नहीं है। न-जाने कैसा आदमी हो, चोर हो, लुच्चा हो, बदमाश हो। सूरत से मालूम होता है कि आदमी कुछ भेद वाला है। कौन जाने बेटी, कोई क्रांतिकारी हो; आजकल पुलिस के डर से बहुत भागे-भागे फिरते हैं। कल को कोई चीज़ उठाकर चल दे तो उसे कहाँ ढूँढते फिरेंगे। पुलिस को पता लगा, तो मुफ़्त की परेशानी होगी। एक बूढ़े आदमी की बात मानो। तुम सयानी हो। उस आदमी का तुम्हारे साथ रहना—चार आदमी क्या कहेंगे? सब अपने मन की ही न करना चाहिए, कुछ दुनिया की भी सुनना चाहिए।"

"मुझे तो आदमी में कोई बुराई नहीं मालूम होती। देखने में बड़ा सीधा है। क़िस्मत के फेर से उसकी ऐसी दशा हो गई, नहीं तो पढ़ा-लिखा है और अँग्रेज़ी भी अच्छी जानता है। मेरी किताबें देखीं, तो एक पर बड़ी देर तक आँखें गड़ाए रहा। अगर योग्य हुआ तो इसे

मैं अपनी लाइब्रेरी का इंचार्ज बनाऊँगी या अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लूँगी।"

हीराचंद अब और घबराया। यह पढ़ा-लिखा आदमी भिखारी के वेश में क्यों? इस बात को सोचकर वह समझ गया कि ज़रूर कुछ दाल में काला है। उसने कुछ देर रुककर कहा—"बेटी, मेरा कहना न मानोगी तो धोका खाओगी।"

पर मनोरमा अपनी ज़िद पर रही।

हीराचंद ने खीझकर कहा—'जब धोखा खाओगी, तब सीखोगी, न मानो बूढ़े की बात। बी० ए० हो गई हो, बूढ़े तो अब तुम्हारे सामने बेवकूफ़ हैं।

× × × ×

एक महीने भिखारी को आए हो गए हैं। उसे अब कोई देखे तो कभी नहीं कह सकता कि वह एक मास पहले शरीर पर चिथड़ा लपेटे सड़क पर पड़ा रहा होगा। पढ़े-लिखे आदमियों के-से उसके कपड़े हैं। मनोरमा ने उसका नाम अपने नाम से मिलता-जुलता मनोहर बाबू रख दिया है। मनोरमा के ही कमरे के बग़ल में उसका अलग कमरा है। नाम मात्र को कमरा अलग है, कभी मनोहर मनोरमा के कमरे में रहता है और कभी मनोरमा मनोहर के कमरे में। कभी दोनों पियानो के सामने बैठे दिखाई देते हैं और कभी कैरम-बोर्ड के। टेनिस दोनों साथ-साथ खेलते हैं। सिनेमा साथ-साथ जाते हैं। एक ही टेबिल पर खाने की तश्तरियाँ बिछ जाती हैं—दो सेट—पर कभी मनोरमा मनोहर की तश्तरी में से उठाकर खा लेती है और कभी मनोहर मनोरमा की तश्तरी में से। मनोरमा मनोहर को उसी शान-शौकत से रखती है जिस तरह अपने को। मनोहर कभी इन्कार करता है तो कह देती है, तुम्हारे

लिए यही काम है, प्रतिज्ञा याद करो मानना होगा। मनोहर सिर झुका कर करता है।

बूढ़ा हीराचंद यह सब देखता है और जलता है। जब कभी मनोहर को अकेले पा जाता है धमकाता है—"आवारा आदमी, भाग जा यहाँ से, नहीं तुझे पकड़वा दूँगा। और ऐसे जुर्म में फाँस दूँगा कि दस बरस को चला जायगा।" मनोहर चुपचाप सुन लेता है। मनोरमा से भी नहीं कहता। सारे नौकर-चाकर इस भेद को नहीं जान पाते कि यह भिखारी क्यों इतना संमानित है। बुढ़िया महरी नौकरों से कभी-कभी यह फुसफुसाते सुनी जाती है कि भिखारी ने बीबी जी के ऊपर कोई जोग-जादू चला दिया है, पर किसी की हिम्मत नहीं पड़ती कि चूँ कर जाय।

एक दिन मनोरमा और मनोहर पास बैठे थे। मनोरमा ने पूछा—'मनोहर, तुमने अपने विषय में मुझसे अभी तक कुछ नहीं बतलाया, आज अपने पूर्व जीवन की कथा बताओ।"

"मनोरमा, मेरा पूर्व जीवन एक कहानी है। वर्तमान भी एक कहानी है और शायद भविष्य भी ऐसा ही होगा। मेरे चारों ओर भी एक दिन चमचमाता संसार था। मैंने एक आदर्शमय भावुकता में आकर उसकी परीक्षा लेनी चाही। तब इस संसार के सारे व्यवहार में स्वार्थ ही स्वार्थ दीख पड़ा। मेरे धन पर, मेरे रूप पर, मेरे गुण पर, मेरे यश पर सब मोहित थे मैं जानना चाहता था कि मुझ पर कोई मोहित है या नहीं। अपनी सारी चीज़ें छिपाकर सिर्फ़ अपने को खोलकर विश्व के बाज़ार में बैठ गया। मेरा मोल किसी ने न किया सिवा.........।"

इतना कहते-कहते भिखारी का गला रुंध गया। आँसू भरी आँखों से उसने मनोरमा को देखा। मनोरमा ने कहा—'हाँ, कहते चलो।"

"उसके आगे तुम स्वयं जानती हो।"

"नहीं जानती।"

"तो जान जाओगी।"

"पर एक महीने तो मुझे तुम्हारे साथ रहते हो गए। मैंने अभी तक कुछ नहीं जाना।"

मनोहर ने बात का रुख बदला—'क्या मुझे तुम्हारे यहाँ रहते एक महीना हो गया ? मुझे ऐसा लगता है जैसे एक हफ़्ता भी नहीं बीता। तब तो मुझे अपने एक मास की तनख्वाह माँगनी चाहिए।"

"ज़रूर।"

"याद है प्रतिज्ञा ?"

"हाँ-हाँ जो तुम माँगोगे।"

"दोगी ?"

"माँगो।"

"नाराज़ तो न होओगी ?"

"नहीं।"

"प्रतिज्ञा करती हो ?"

"तुम्हारे सिर पर हाथ रख कर।"

"तुम्हारा प्रेम"—इतना कहकर उसने सिर झुका लिया।

मनोरमा ने आँखें नीची कीं, बोली, वह तो तुम्हारे प्रथम दर्शन पर ही तुम्हें भेंट हो चुका, क्या तुमने अब तक उसे नहीं देखा ?"

प्यारी मनोरमा, तुम्हारी आँखों में यदि वह स्नेह नहीं देखता, तो यहाँ आता ही कैसे ? धनियों के ऐश्वर्य-भोग की अभिलाषा से मैं यहाँ नहीं आया हूँ। शायद इससे अधिक ऐश्वर्य ठुकरा आया हूँ।

पर तुम्हारा जो स्नेह आँखों से देख चुका हूँ, अब उसे संपूर्ण रूप से प्राप्त करना चाहता हूँ।"

क्षण-भर दोनों अपने-अपने तन-मन की सुधि भूल गए। उनकी बाहें अपने आप उठकर एक दूसरे के गले में पड़ गईं।

उस दिन से मनोहर और मनोरमा और भी पास रहने लगे और बूढ़ा हीराचंद और क्रुद्ध। जब कभी मनोहर को देखता तो उसके ऊपर ऐसी लाल-लाल आँखें निकालता जैसे उसे खा जायगा। मनोहर को किसी न किसी प्रकार हटाने की चिंता उसे दिन-रात लगी रहती।

× × × ×

इधर हीराचंद मनोहर को निकालने पर तुला ही हुआ था, उधर परिस्थिति भी उसकी सहायक हो गई। देश में क्रांतिकारी दल ज़ोर पकड़ रहा था। जगह-जगह हत्याएँ हुई थीं और बम फेंके गए थे। इसलिए कोई मनुष्य केवल संदेह के ऊपर गिरफ़्तार कर लिया जा सकता था और सरकार के इच्छानुसार बंदी करके रक्खा जा सकता था।

मनोहर ने देखा कि हीराचंद का आना-जाना थाने की तरफ़ बढ़ता जा रहा है। तब तो उसे ज्ञात हुआ कि उसकी धमकियाँ छिपी ही न थीं। एक दिन उसने देखा कि एक पुलिस का अफ़सर हीराचंद के पास आया और उसने बड़ी देर तक उसके पास बैठकर अकेले कमरे में बातें कीं। मनोहर के मन में शंका उत्पन्न हुई कि कहीं हीराचंद पुलिस को कुछ रुपए दे-दिलाकर उसको गिरफ़्तार न कराए और उसके ऊपर झूठा मुक़दमा न चलवा दे। उसकी शंका पल-पल बढ़ने लगी। उसे ऐसा लगा कि पुलिस उसी रात को आकर उसे पकड़ ले जायगी।

उसके मन में एक विचार आया, क्यों न चुपचाप वह यहाँ से खिसक जाय।

उस समय पश्चिम आकाश में गर्द जमा हो रही थी, उसी समय बहुत मामूली कपड़ों में मनोहर घर से निकला। घर से दूर जाते हुए उसने मनोरमा की खिड़की की ओर देखा। मनोरमा की साड़ी उड़ रही थी, वह अपनी खिड़कियाँ बंद कर रही थी। दोनों ने एक दूसरे को देखा। मनोरमा ने चिल्लाकर पूछा, "कहाँ जा रहे हो?"

"यहीं काम से।"

"कब आओगे?"

"आँधी शांत होने के बाद।"

आँधी आई और चली गई। मनोरमा ने अपनी खिड़की खोली। अपने छज्जे पर घूम-घूमकर मनोहर के आने की बाट देख रही थी। थोड़ी देर में रात हो गई। मनोहर का कहीं पता नहीं। वह तो अपने से कभी कहीं आता-जाता नहीं था, आज उसे कहाँ जाने की सूझी! जैसे-जैसे समय बीतता गया, मनोरमा व्यग्र होती गई। खाने का समय हुआ। लेकिन मनोरमा को कहाँ की भूख, कहाँ की प्यास। मनोहर की चिंता उसे प्रति पल के साथ हो रही थी। मनोरमा बारबार मनोहर के कमरे में जाती और आँखें फाड़-फाड़कर उसे ढूँढती। पर कहीं मनोहर का पता न था। हीराचंद को जब पता लगा तो मनोरमा के पास आया और एक व्यंगपूर्ण हास्य के साथ बोला, "कहो बेटी, फकिरवा आखिर भाग गया न? देखो कोई चीज़ लेकर तो नहीं भागा। मैं तो पहले ही भाँप गया था कि आदमी गड़बड़ है। तब तो तुमने मुझे निरा गँवार समझा था।"

मनोरमा ने आँखों में आँसू भरकर कहा—"मेरी कोई चीज़ नहीं ले गया।"

"ले भी गया होगा तो तू काहे को बतलाएगी। तेरा तो वह 'पारवेट सरकट्टी' (private Secretary) था न ?"

"अपने पैर के जूते तो ले नहीं गया, चीज़ क्या ले जायगा !"

इतना कहकर मनोरमा ने अपने कमरे का दरवाज़ा बंद कर लिया और खूब फूट-फूटकर रोई। रात उसने रो-रोकर काटी। बीसों बार उसने उठ-उठकर दरवाज़ा खोला, रह-रहकर उसे ऐसा लगता कि मनोहर दरवाज़ा खटखटा रहा है। उसके हृदय को बड़ी गहरी चोट लगी। जिसे उसने अपना कोमल हृदय दिया, सुकुमार प्यार दिया, वह बिना कुछ कहे चुपचाप चला गया! सोचने लगी, उसने कोई अपराध भी तो नहीं किया, न उससे कुछ कहा, न उसका अपमान किया, फिर वह क्यों बिना कुछ कहे चुपचाप चला गया? एक दिन बीता, दो दिन बीते। हीराचंद अपने काम पर उसी तरह मुस्तैद था, जैसे उसके हिसाब कुछ हुआ ही न हो। सचमुच वह खुश था कि लाठी भी न टूटी और साँप भी मर गया। किंतु मनोरमा का एक संसार ही नष्ट हो गया था।

वह चाहती थी कि वह भी भिखारिन का वेश बनाकर घर से निकल पड़े और अपने प्रियतम की जोगिन बनकर उसे ढूँढती फिरे। पर वह जानती थी कि वह घर से पैर न हटाने पाएगी। हीराचंद मनोहर को स्वयं ढुँढवाए, इसकी आशा करना स्वप्न देखना था। मनोरमा में बुद्धि पर्याप्त थी। उसने सोचा कि कौन सी ऐसी तरकीब हो सकती है कि मनोहर का पता लगे।

एकाएक वह चिल्ला पड़ी—"हाय मेरा नौलखा हार!"

नौकर-चाकर सुनते ही सन्न हो गए। एक दूसरे से धीमे-धीमे बातें करने लगे—"भिखिअरिया लै गवा। बिसुआस घात किहिस। अइसा मिलके ठगेस। बिबिअउजी त ओका देवता अस पूजै लागीं। बड़ा भारी ठग निकरा" इत्यादि।

हीराचंद के कानों तक खबर पहुँची। बुड्ढा दो दिन से कान में तेल डाले बैठा था कि जैसे उसे मनोहर के भागने की कोई चिंता नहीं। आज जब नौलखा हार की चोरी का पता उसे लगा तो बड़ा चौकन्ना होकर आया। मनोरमा को जो कुछ बुरा-भला कह सका कहा। पुलिस को इत्तिला की। उसकी हुलिया लिखाई, चोर पकड़ जाने और माल बरामद होने पर इनाम ा वादा किया।

मनोरमा की तरकीब चल गई।

× × × ×

मनोहर घर से निकलकर सोचने लगा कि वह कहाँ जाय? सोचने के लिए वह रुकना भी नहीं चाहता था। किसी तरफ़ को चला जाता था, फिर भी उसे नहीं मालूम था कि उसे कहाँ जाना है। थोड़ी देर में वह नदी के किनारे पहुँच गया। रात हो गई थी। नदी के किनारे भयानक शांति थी। आज कई महीनों से जो मनुष्य विशाल भवनों में जीवन व्यतीत कर रहा था, उसे खुले स्थान में आकर ऐसा लगा जैसे वह किसी अज्ञात स्थान में आ गया हो। नावें किनारे पर बँधी पानी में तैर रही थीं। ऊपर आँखें करके लेट गया। उसे मनोरमा की याद आने लगी।

सोचने लगा—थोड़ी देर का समय और मिलता तो मनोरमा से कुछ बातें करने का अवसर प्राप्त हो जाता। उसे कम-से-कम मुझे समझा तो देना था कि मेरे इस तरह भागने का क्या कारण है। वह क्या समझेगी! क्या खयाल करेगी! न जाने उसके पास जाने का कब सुयोग मिले! चलते समय उससे कुछ कह देता तो इतनी चिंता मुझे न होती पर यदि अंतिम बार उससे मिलने जाता तो शायद वह इतने ज़ोर से पकड़ती कि छुड़ाकर आना कठिन होता। वियोग के समय कुछ कड़े बनकर ही मैंने अच्छा किया। उसके पास जाऊँगा तो अवश्य,

पर कब—यह नहीं कह सकता, अभी तो उसके पास से हटकर ही मैंने ठीक किया। प्रेम की थोड़ी परीक्षा भी हो जाएगी। न भागता तो हीराचंद न-जाने कौन घाट लगाता। मनोरमा फिर स्वप्न ही हो जाती। मनोहर की रात इन्हीं विचारों में बीती।

दूसरे दिन मनोहर ने दरिया पार किया। गाँव-गाँव फिरने लगा। कुछ माँग लेता, खा लेता, पेड़ों के नीचे सो रहता। गरमी के दिन थे, कोई और ज़रूरत न थी। जब रास्ते में चलता पीछे फिरकर देखता। उसे ऐसा लगता कि मनोरमा पीछे-पीछे आ रही है। कहीं अकेला बैठकर सिर नीचे करता तो मनोरमा के साथ केलि-क्रीड़ा का सारा दृश्य उसके सामने आ जाता।

मनोहर एक शहर से चलकर दूसरे शहर में पहुँचा। हर जगह के थानों पर मनोहर की हुलिया लिखी थी। मनोरमा के यहाँ उसकी तस्वीर भी खिंची थी। खास-खास नाकों पर इसकी नक़लें मौजूद थीं। पुलिस के सिपाही उसकी ताक में रहा ही करते थे। एक दिन एकाएक उसे कई पुलिस वालों ने आकर पकड़ लिया और उसके हाथ में हथकड़ी डाल दी। मनोहर को आश्चर्य तो न हुआ। उसने समझा, हीराचंद ने ही उसकी खोज में पुलिस भेजी होगी पर उसकी समझ में यह न आया कि जब उसने मनोरमा का घर छोड़ दिया, तब उसने क्यों उसे परेशान करने पर कमर बाँधी।

मनोहर पुलिस की संरक्षता में प्रयाग लाया गया। जब मनोहर को यह पता लगा कि हीराचंद ने उसपर नौलखा हार चुराने का अभियोग चलाया है, तब तो उसके पैरों के नीचे से धरती खिसक गई। तब न मरा तो अब मरा। दारोग़ा ने मनोहर की गिरफ़ारी की खबर हीराचंद और मनोरमा को कर दी। खबर सुनते है मनोरमा गाड़ी पर दारोग़ा के यहाँ पहुँची। ५००) के नोट उसकी हथेली पर रख

दिए और कहा कि मेरा हार मिल गया, क़ैदी छोड़ दिया जाय। मनो-हर के छूटते ही मनोरमा उसके पास दौड़ गई और उससे लिपट गई। जल्दी से खींचकर उसे गाड़ी में बिठा लिया और सईस को घर चलने की आज्ञा दी।

मनोहर ने पूछा—"क्यों मनोरमा, मैंने सुना कि तुमने मुझे नौलखा हार की चोरी लगाई थी?"

मनोरमा ने कहा—"न लगाती तो तुम्हें पाती कैसे? तुमने मेरी ऐसी चीज़ चुराई थी, जिसपर सैकड़ों नौलखा हार निछावर किए जा सकते थे। मुझे तो उस चोर की आवश्यकता थी। पर यदि मैं उस चोर को ढुँढवाना चाहती, तो न सरकार ही मेरी मदद करती और न मुनीम जी ढुँढवाते। और मेरी अमूल्य संपत्ति का चोर यों ही निकल भागता। अच्छा यह बताओ तुम भागे क्यों थे?"

"मनोरमा, हीराचंद मुझे सदा से धमकी देता था। मैंने देखा कि वह सचमुच मुझे पकड़वा देने की चिंता में है। मैं तो आवारा हूँ। मेरा न कोई घर, न कोई पेशा, मेरे न कोई आगे, न पीछे। ऐसे कितने ही आदमी महज़ संदेह पर जेलों में बंद कर दिए जाते हैं, कहीं मैं भी न इसी तरह वहाँ पहुँचा दिया जाऊँ और तुम्हारे स्नेह से सदा के लिए वंचित कर दिया जाऊँ इसीलिए......"

"तो वह संदेह मैं न रहने दूँगी। अब तुम्हारा कोई होगा। तुम उसके कोई होगे। तुम्हारा कहीं घर-द्वार होगा। तुम्हारे कोई आगे-पीछे होगा। अब तुम्हें कोई आवारा नहीं कह सकेगा।"

मनोहर मनोरमा का अर्थ समझ गया। बोला, "पर मुझे तो उसी तरह स्वच्छंद रहने में ही आनंद आता है।"

"किंतु अब तो तुम स्वच्छंद नहीं रह सकोगे। तुमने मेरा हृदय चुराया है। तुमको मैं सज़ा देने की अधिकारिणी हूँ कि नहीं?"

"हाँ मनोरमा !"

"तो मैं आज तुम्हें अपने अंचल का बंदी बनाती हूँ, और आजी-वन क़ैद की सज़ा देती हूँ।"

ऐसा कहते-कहते मनोरमा ने अपनी साड़ी का एक छोर मनोहर की धोती से बाँध दिया। और बोली—"अब तुम मेरे बंदी हो, अब तुम्हें कोई बंदी नहीं बना सकता।"

चिड़ियों की जान जाए लड़कों का खिलौना

रूबिया सचमुच ही रूबिया थी। 'रूबी' अंग्रेज़ी भाषा में लाल मणि को कहते हैं। जहाँ उसके मुख पर सौंदर्य की लालिमा थी वहाँ यौवन की चमक भी थी। इस तरह उसका 'रूबिया' नाम उसके लिए खूब सार्थक हुआ था। जिस समय कहानी आरंभ होती है उसकी अवस्था सोलह वर्ष की थी।

रूबिया के पिता का नाम सेमुएल आत्माराम था। वे ब्राह्मण से ईसाई हो गए थे। रूबिया जब छोटी थी तभी उसकी माँ मर गई थी। सेमुएल ने फिर शादी न की। वे कानपूर में नवाबगंज के मुहल्ले में रहते थे। इनके मकान के ही बग़ल में हेनरी राधाचरण का मकान था। हेनरी भी हिंदुस्तानी ईसाई थे। हेनरी और सेमुएल में घनिष्ट मित्रता थी। इस मित्रता के कारण रूबिया को अकेला रहना न अखरा। वह स्कूल के बाद दिन में हिर-फिर कर हेनरी के ही यहाँ रहती। मिसेज़ हेनरी रूबिया का बड़ा दुलार करती थीं। मातृहीना बालिका से उन्हें स्वाभाविक ही बड़ा स्नेह था। मिसेज़ हेनरी के केवल एक लड़का था। वे लड़की की साध इसी रूबिया से पूरी करती थीं। इसी तरह सेमुएल जैकब को—यह हेनरी के लड़के का नाम था—अपने लड़के ही जैसा मानते थे। सेमुएल और हेनरी में इतना हेल-मेल था कि घर ही दो दिखाई पड़ते थे, वैसे मालूम होता था कि सब एक ही परिवार के हैं। जब चर्च जाते तो सब साथ, जब सिनेमा जाते तो सब साथ, जब कहीं घूमने-फिरने जाते तो सब साथ। जैकब और रूबिया भाई-बहिन से जान पड़ते। जैकब रूबिया से दो तीन साल बड़ा था।

वह सुंदर सुडौल और चुस्त नवयुवक था। रूबिया और जैकब में खूब पटती थी। एक विस्मृत समय से वे एक दूसरे को प्यार करते हुए बढ़े थे। आजन्म परस्पर भाई-बहिन-सा प्रेम रखते हुए भी वे भाई-बहिन नहीं हैं—यह बात जैसे-जैसे वे दोनों यौवनावस्था में प्रवेश करते गए उनके सरल प्रेम को रहस्यमय बनाती गई।

रूबिया इस साल एस० एल० सी० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुई थी। सब की यह राय हुई कि अभी उसे और आगे पढ़ना चाहिए। अब तक कानपूर में लड़कियों के लिये कोई इंटरमीडिएट कालिज न था। यह तै हुआ कि इसके लिए रूबिया प्रयाग जाए और वहाँ बोर्डिंग हाउस में रहकर अध्ययन आरंभ करे, पर सेमुएल को लड़की से जुदा होना अच्छा न लगा। सेमुएल ने पाश्चात्यों के रहन-सहन की नक़ल तो कर ली थी, पर संतान-प्रेम में अभी पूर्वीयों का-सा ही हृदय था। उन्होंने यही अच्छा समझा कि वे भी प्रयाग चले जायँ और वहीं कोई छोटा-मोटा मकान ले कर रहें। बोर्डिंग हाउसों पर उन्हें विश्वास न था। वे छात्रों के घर पर ही रखने के पक्षपाती थे।

इसी साल जैकब एफ़० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ था। उसने दबी ज़बान से एक बार म्योर कालिज में पढ़ने की इच्छा प्रकट की, पर सेमुएल और मिसेज़ हेनरी दोनों ने इसका विरोध किया—सेमुएल ने अपने सिद्धांत के अनुसार और मिसेज़ हेनरी ने पुत्र-प्रेम के कारण। जैकब की माँ उसे अपनी आँखों से दूर नहीं रखना चाहती थीं। अकेला ही लड़का था; रूबिया, जिसे अपनी बेटी से कम न समझती थीं, जा रही थी। उन्होंने जैकब को कानपूर के ही कालिज में रखना चाहा।

जब स्कूल खुलने के दिन नज़दीक आने को हुए तो सेमुएल जाने की तैयारी करने लगे। बहुत सा सामान हेनरी के यहाँ रखा दिया, क्योंकि रूबिया की शिक्षा-समाप्ति पर उनका इरादा फिर कानपूर लौट

आने का था; बहुत सा सामान अपने साथ ले जाने के लिए बँधवाया, कुछ मामूली चीज़ें नीलाम भी करदीं।

जैसे-जैसे रूबिया के जाने की तैयारियाँ होने लगीं वैसे-वैसे वह और जैकब उदास रहने लगे। उनका प्रेम धीरे-धीरे मौन हो गया। हफ़्तों से दोनों एक दूसरे की ओर घंटों देखा करते थे, पर बोलते न थे। रूबिया को कानपूर छोड़ने के लिए अब केवल दो ही दिन बाक़ी थे। शाम का वक़्त था। रूबिया अपने बाहरी बरामदे में एक आरामकुर्सी पर बैठी हुई एक रेशमी रूमाल पर सुई से कुछ काढ़ रही थी। उसके पापा अपने दोस्तों से मिलने-मिलाने चले गए थे। इसी समय जैकब अपना सूट-बूट पहने आ पहुँचा। उसके आते ही रूबिया ने रूमाल को चट अपनी पीठ के पीछे रख लिया। जल्दी में लाल रेशम के तागे में पड़ी हुई सुई मेज़ पर ही छूट गई। आते ही जैकब ने पूछा,

"क्या करती थीं, रूबी ?"

"कुछ नहीं—कुर्सी ले लो"—बैठे ही बैठे उसने जैकब को एक कुर्सी की ओर संकेत किया। जैकब को संदेह हो गया। वह मेज़ पर की सुई उठाते हुए बोला,

"तुम कुछ काढ़ रही थीं—हमें दिखादो"

"नहीं तो"।

"गवाह मौजूद है"—उसने सुई का तागा बराबर करते हुए कहा।

"हाँ काढ़ रही थी।"

"तो मुझे दिखाओ।"

"दिखाऊँगी, लेकिन अभी नहीं।"

"नहीं दिखादो, मेरी रूबी तो।"

"फूल है"।

"फूल ही दिखादो"।

जैकब कुर्सी के पीछे चला। रूबिया ने अपना हाथ पीछे करके रूमाल अपनी मुट्ठी में ले लिया। खड़ी हो गई। जैकब उसकी ओर बढ़ा। रूबिया पीछे-पीछे खिसकती जाती थी; एकदम से हँसकर कमरे में घुस गई। जैकब भी यह कहते हुए, कि क्या मैं कमरे में नहीं आ सकता, कमरे में चला गया। कुछ देर कमरे में इस कोने से उस कोने और उस कोने से इस कोने भागा-भागी हुई। आखीर में जैकब ने अपना हाथ रूबिया के पीछे करके रूमाल छीन लिया। रूबिया कुछ शर्माई हुई खड़ी हो गई। जैकब ने रूमाल फैलाया। इस पर कढ़ा था,

"प्यारे जैकब को सप्रेम"

—रू

जैकब ने रूमाल को चूमकर हृदय से लगा लिया। फिर वह रूबिया की ओर बढ़ा और उसके गले में हाथ डालकर उसका मुँह चूम लिया। रूबिया ने अपना सिर नीचे कर लिया, बोली,

"लाओ पूरा करके दूँगी।"

"नहीं रूबी, इसे यों ही रहने दो। तुम्हारा अधूरा नाम देखकर आज की सारी बातें मेरी आँखों के सामने आ जायँगी। आज की बात मेरे जीवन की अत्यंत मधुर स्मृति होगी। तुम्हारा अधूरा नाम मुझे उसकी याद दिलाएगा।" इतना कहकर उसने अपने जेब में हाथ डाला और अपना एक चित्र निकालकर रूबिया के हाथों में रख दिया। चित्र के नीचे लिखा था 'तुम्हें मेरी याद दिलाने को'।

निश्चित दिन को रूबिया अपने पापा के साथ कानपूर से चल दी। हेनरी और मिसेज़ हेनरी स्टेशन तक आईं। जैकब नहीं आया। उसे

भय था कि कहीं गाड़ी छूटते समय उसकी आँखों से अश्रुधारा न बह चले, पर कहीं उसके आँसू गिर ही रहे थे। वह एक पार्क की बेंच पर बैठा हुआ अपनी रिस्टवाच देख रहा था। ६ बजकर १६ मिनट पर—यह ट्रेन छूटने का समय था—उसके मुँह से निकल पड़ा—

आह ! प्यारी रूबी प्रतिपल मुझसे दूर-दूर होती जाती है......

× × × ×

प्रयाग के जिस मुहल्ले में सेमुएल ने मकान किराए पर लिया था वहाँ के लड़के बड़े बदमाश थे। सब हिंदुस्तानी ईसाइयों के लड़के थे। यह मुख्यतः ईसाइयों की ही बस्ती थी। पंद्रह-बीस लड़कों का एक गुट्ट था। इन्हें लड़के नहीं शैतान की आँत कहना चाहिए। इन सब की उम्र दस से पंद्रह साल के अंदर होगी। उम्र में छोटे-बड़े ज़रूर थे, पर शरारत में हर एक अपने को सब का चचा ही समझता था। स्कूल में इनसे मास्टर परेशान रहते, घर पर इनके माँ-बाप और बाहर मुहल्ले वाले। ये मास्टरों के नाम गुमनाम चिट्ठियों में गालियाँ लिख-लिख भेजते, दर्जे में शोर मचाते और कमज़ोर लड़कों को पीटते। स्कूल की दीवालों पर पेंसिल, कोयले, निब या कील से अंट-शंट लाइनें खींचते, तस्वीर बनाते। किताबें पुरानी किताबों की दूकानों पर बेच आते; माँ-बाप से कहते, स्कूल में चोरी हो गई। पैसों से चटपटे उड़ाते, सिगरेट पीते। सभी ईसाइयों को मकान के सामने बाग़-बगीचे लगाने का शौक होता है, पर इन लड़कों के मारे किसी के यहाँ न फूलों के खिलने की नौबत आती, न फलों के पकने की। म्युनिसिपल्टी की लालटेनों से तो उन्हें पैदाइशी दुश्मनी थी; आते-जाते उसकी तरफ़ एक आध ढेले सटकार देते। शीशा टूट जाता; लालटेन जलानेवाला आता, गुस्सा होता, पूछता, पर किसकी शामत आती कि बताता। दो चार पैसे के गुखरू लेकर सड़क पर बिछा देते; अब जो ही आ

रहा है उसी की साइकिल में पंचर—फिस्स...फिस्स...फिस्स...। लड़के दूर बैठकर तमाशा देखते, क़हक़हे लगाते। कोई बोलता तो उसकी आँख में पट्टी बाँध कर धौलिया-पुलाव मचा देते। किसी के यहाँ यदि कोई साइकिल पर मिलने आता और ज़रा सी देर के लिए भी अपनी साइकिल बाहर छोड़ देता तो साईकिल की घंटी का 'अपर' (ऊपर वाली कटोरी जो घुमाने से निकल आती है) और नट्स (जो घुमाने से निकल आते हैं और जिनके निकाल लेने से साइकिल की हवा निकल जाती है) निकल जाते। जो कहीं लंप और पंप लगा होता तो पहले उसी पर हाथ साफ़ किया जाता। शामत का मारा बकता खीझता चला जाता। चौक से इक्के-ताँगे लिवा लाते, कि एक ज़नानी सवारी ले जाना है। सड़क पर उसे खड़ा करके एक गली से घुसते दूसरी से निकल जाते। इक्कावाला पंद्रह मिनट इंतज़ार करता, आधा घंटा इंतज़ार करता, पर किसका आना और किसका जाना; आख़ीर में उसे लौटना ही पड़ता। गिरजे जाते तो पादरी जब प्रार्थना करने लगता और लोग अपने सिर झुकाते तो ये लोग पादरी को मुँह चिढ़ाते। बाज़ार जब कोई सामान ख़रीदने जाते तो दो की चीज़ मोल लेते तो चार की यों ही तिड़ी कर देते। इनकी शरारत का यह बड़ा संक्षिप्त परिचय है। आगे आगे इनकी और करामातें खुलेंगी। एक एक से शातिर इनमें पड़े थे।

× × × ×

रूबिया को अपने प्रयाग वाले मकान में आए एक सप्ताह बीत गया होगा। रूबिया कालेज चली गई थी और उसके पापा भीतर सो रहे थे। जब से उन्होंने पेन्शन ले ली थी तब से दिन में प्रतिदिन सोया करते थे। मुहल्ले के कुछ शरारती लड़के आज किसी वजह से क्लास से ग़ायब हो गए थे। उनका सरग़ना आर्थर भी उनके साथ था। वे

रूबिया के मकान के पास आए। मकान कई महीने से खाली था। लड़के जब-तब इस मकान में आकर सिगरेट वग़ैरा पीते और धमा-चौकड़ी मचाते थे।

एक बोला, 'क्यों जी, इस मकान में कोई आ गया क्या ?'

दूसरा बोला, 'हाँ में, एक लड़की रहती है। उसके साथ एक बुड्ढा आदमी भी रहता है।'

'शायद उसका बाप है।'

आर्थर—"क्या नाम है ?"

दूसरा—"नाम तो नहीं मालूम; कोई तख्ती भी तो नहीं लगी है। वो देखो, लेटरबाक्स में एक खत आया है, उससे पता लगेगा, चलो देखें।"

पहले लड़के ने लेटरबाक्स को जाली से झाँका।

दूसरा—बोला, 'क्यों यार कुछ दिखाई पड़ता है ?'

पहला—'हाँ-हाँ, मिस रूबिया, केअर आफ़ मिस्टर सेमुएल आत्मा राम।'

दूसरा—'मिस साहबा के नाम ख़त है ? यार तब तो ख़त निकालो। देखें किसने ख़त लिखा है ?

पहला—'निकालते तो मगर ताला जो बंद है।'

दूसरा—'ओ—आर्थर ! आर्थर (आर्थर जरा दूर खड़ा था) तुमने तो न जाने कितनी बार मास्टरों के डेस्कों के ताले तीलियों से खोले हैं, ज़रा इसमें भी तो अपनी अक़्ल लगाओ। बड़े मज़े की चीज़ मिलेगी।'

आर्थर को तीली भर मिलने की देर थी। एक की जेब में एक

कील पड़ी थी आर्थर ने उसे ताले में डाल कर ऐसा घुमाया कि चट ताला खुल गया। उसने खत को निकाल लिया और ताले को फिर उसी तरह बंद कर दिया। तीनों की सलाह हुई कि गिलबर्ट के मकान के पीछे जो बाग़ है वहीं चलकर खत पढ़ा जाय। तीनों वहीं पहुँचे। एक बेंच पड़ी थी। आर्थर बीच में बैठा, दोनों साथी इधर-उधर चिपक कर बैठे। खत खोला गया, एक बढ़िया फैंसी लेटर-पेपर पर बड़े सुंदर और स्वच्छ अक्षरों में लिखा था। आर्थर पढ़ने लगा।

"नवाबगंज, कानपूर, १४-७-२० ?"

एक बोल उठा, "१४, ७, २१ कि २०"

आर्थर फिर पढ़ने लगा, "प्यारी प्यारी रूबी।"

दूसरा बोला, 'ओ-हो! डबल प्यारी!'

आर्थर ने फिर शुरू किया, 'जब से तुम यहाँ से गईं थीं मैं आग के गोले की तरह जल रहा था। कल शाम को तुम्हारा पत्र उसपर ठंडे पानी तरह आकर पड़ा। अनेक बार मैंने इसे चूमा और हृदय से लगाया। रात भर इसे सिर के नीचे रखकर सोया। तुमने यह पत्र भेजकर मेरे ऊपर जो कृपा की है उसके लिए तुम्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ। मेरी तो इच्छा थी कि मैं तुम्हें पहले खत लिखूँ पर मुझे तुम्हारा पता न मालूम था। प्यारी रूबी, क्या तुम मेरे प्रेम पर संदेह करती हो? मैं स्टेशन पर नहीं आया, इससे तुमने यह कैसे समझा, कि मेरा प्रेम तुमसे अलग होने के पहले ही से घटने लगा? सच कहता हूँ, इसकी वजह यह न थी। मैं किन आँखों से देखता कि गाड़ी तुम्हें लेकर भागी जाती है। रूबी, भला तुमसे बढ़कर प्यारा मेरा कौन दोस्त है जिससे मिलने को मैं चला जाता? तुम ऐसा न कहो। मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ—यह बात तो मैंने अब जानी है, जब मैं तुमसे अलग हो गया हूँ। हाँ, पढ़ा तो मैंने भी है कि आँख से दूर

होने पर मनुष्यों का प्रेम घट जाता है, पर मेरी तो दशा बिल्कुल उलटी है। तुम जितनी ही दूर चली गई हो उतनी ही ज़्यादा प्यारी हो गई हो और जुदाई के जितने दिन बीतते जाते हैं उतना ही उतना मेरा प्रेम बढ़ता जाता है। ईश्वर हमारा आजन्म प्रेम मृत्युपर्यंत बनाए रहे। यदि मैंने कोई अनुचित बात लिख दी हो तो क्षमा करना; क्षमा न करना तो सज़ा दे लेना, लेकिन मुझे भुलाना मत। मैं भी दिन भर तुम्हारी ही याद करता हूँ। पापा के कमरे में तुम्हारे छुटपन का चित्र लगा है, उसी को देखा करता हूँ। अपना आजकल का एक फोटो खिंचाकर भेज दो। कालेज के पते से भेजना। तुम्हें किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो लिखना। तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि मैं सदा तुम्हारा जैकब। नोट, रूबी, मेरे खतों को पढ़कर फाड़ डालना। तुम बड़ी बेपरवाह हो, कहीं वे तुम्हारे पापा के हाथों में न पड़ जायँ। मैंने किसी से नहीं बतलाया कि तुमने मेरे पास खत भेजा है। तुम भी मेरे खतों की चर्चा अपने पापा से न करना। खतम...''।

खत जब खतम हो गया तो तीनों साथी ज़ोर से हँसे। आर्थर ने खत को जेब में रख लिया। एक टीन का टुकड़ा पास पड़ा था। उसने झपटकर उसे उठा लिया और उसे बजा-बजाकर गाने लगा।

> ''छिप-छिप के भेजते हैं मिस रूबिया को खत।
> पर जानते नहीं हैं आर्थर बड़े हज़रत॥
> चुपके-चुपके करते हैं मिस रू से मुहब्बत।
> पर आर्थर कर देते हैं सब बीच में गड़बड़॥''

उसका एक साथी बोल उठा, ''भाई आखिरी लाइन तो ठीक नहीं बैठी। यों कहो, 'पर आर्थर कर देते हैं खत बीच में चंपत।''

''हाँमें, ठीक कहा''।

इतने में छुट्टी का घंटा बजा—टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन......

"यह लो छुट्टी हो गई। यार सब को यह खत सुनाना चाहिए। अच्छा मैं यहीं बैठा हूँ, तुम दोनों जाके सब को बुला तो लाओ।"

सब लान पर जमा हुए। आर्थर ने सभापति के समान बेंच पर बैठकर खत पढ़ा। आर्थर ने जो गाना बनाया था गाया गया। पर आर्थर से भी बढ़-बढ़कर लोग उनमें थे। एक बोला।

"यार मिस रूबिया के पास जो खत आएगा वह तो अब हम हमेशा निकाल लिया करेंगे, पर रूबिया जो खत भेजे वह भी मिल जाय तो बड़ी दिल्लगी हो। इधर से यह खत न भेजने की शिकायतें भेजे, उधर से वह भेजे और बीच में हम तमाशा देखें।"

दूसरे ने कहा, 'लेटरबाक्स से कैसे खत निकालोगे? पोस्ट आफ़िस का ताला ऐसा-वैसा नहीं होता"।

तीसरा बोल उठा, 'यह कौन सी मुश्किल बात है? तुम इतना पता लगा रक्खो कि किस लेटरबाक्स में खत छोड़ा गया फिर निकाल लाने का काम मेरा। न जाने कितने बार मैंने अपने इम्तहान का कार्ड अपने बाप के पास जाने से रोक लिया। सभी चीज़ों में फ़ेल रहता था, बाद को एक कार्ड लिख देता था, कि बीमार हो जाने की वजह से इम्तहान ही न दे सका। मुझे तुम इतना बता दो कि फलाँ लेटरबाक्स में खत पड़ा, बस न ला के ख़त सामने रख दूँ तभी कहना।'

× × × ×

कहानी प्रसिद्ध है कि लड़कों से शैतान भी हार मान गया, पर शैतान लड़कों से तो शायद ईश्वर भी हार मान ले। रूबिया को अपने पत्र की प्रतीक्षा करते हुए दस दिन बीत गए। उसे पत्र मिलता तो कहाँ से? जैकब स्टेशन पर भी मिलने नहीं आया था। अब उसने खत भेजा तो उसने उसका कोई जवाब न दिया। रूबिया सोचने लगी, मालूम होता है जैकब अब मुझे बिल्कुल भूल गया। मेरे लिए

उसका सारा प्यार खतम हो गया। जैसे बुझने के पहले चिराग़ की लौ एकदम से बढ़ जाती है उसी तरह मेरे कानपूर के अंतिम दिनों में उसका भी प्यार बहुत ज़्यादा बढ़ गया था। मेरे यहाँ आते ही उसके प्यार का दीपक बुझ गया। आह! मेरे लिए अब चारों ओर अंधकार है। एक-एक दिन उसके लिए एक-एक साल की तरह बीतता। उसे रात-दिन जैकब ही की याद आती। वह चाहती कि जैसे जैकब उसे भूल गया वैसे वह भी जैकब को भूल जाय। बात उल्टी हो रही थी। वह जैकब को जितना ही भूलने का प्रयत्न करती थी, उसे उतनी ही उसकी याद और आती थी। क्यों न आती? प्रेम का बेतार-का-तार, जो रूबिया और जैकब के हृदयों को एक कर रहा था, अपना काम कर रहा था। वहाँ जैकब दिन-रात रूबिया की याद में पागल रहता था, तब फिर रूबिया को भला उसकी याद कैसे न आती?

'मुमकिन नहीं कि दर्द इधर हो उधर न हो'।

जैकब को पहले रूबिया के प्रेम पर शंका न हुई। जब उसके पत्र का उत्तर न गया तो उसके हृदय में यह शंका उत्पन्न हुई, कि कहीं उसका पत्र रूबिया के पापा के हाथ तो नहीं लग गया, कि वह बेचारी डाटी गई हो और उसे आइंदा खत भेजने की मनाही कर दी गई हो। पर यह शंका स्थाई न हुई। रूबिया ने अपने पहले ही खत में लिख दिया था, कि लेटरबाक्स की चाभी उसी के पास रहती है। अब वह सोचने लगा कि रूबिया ने मेरा खत पा करके भी उत्तर क्यों नहीं दिया? मुझको लिख भेजा था कि दूर हो जाने से प्रेम घट जाता है और पूछा था कि क्या मेरा प्यार घट रहा है? क्या उसका प्रेम खुद ही दूरी का शिकार हो गया? आगाह करने वाला ही खतरे में पड़ गया? मालूम होता है, उसने जो मुझे लिखा था कि दूर हो जाने से मैं उसे प्रेम करना छोड़ दूँगा वह उसकी स्वयं अपनी भावनाओं का प्रतिबिंब था। स्थान-

परिवर्तन से रूबिया इतनी जल्दी इतना खिन्न जायगी, यह बात उसने स्वप्न में भी न सोची थी। मन में कहता, रूबिया आसानी से मुझे भूल सकती है पर मैं उसे नहीं भूल सकता। यहाँ तो सभी चीज़ें मुझे उसकी याद दिलाया करती हैं। ऐसी बातें सोचकर कभी वह किसी कुर्सी को देखने लगता, जिसपर रूबिया आकर बैठा करती थी; कभी किसी दरवाज़े को, जिसे रूबिया थाम कर खड़ी हुई थी; कभी उन गुलदस्तों को, जिसमें रूबिया ने फूल सजाए थे और कभी उन चाय के प्यालों को, जिन्होंने रूबिया के अधरों को चूमा था। कभी-कभी जैकब रूबिया के मकान में, जो अभी तक खाली ही था, चला जाता और पागलों की तरह दरवाज़ों और खिड़कियों पर प्यार से यह याद करके हाथ फेरता कि रूबिया इनको अपने हाथों से खोलती, बंद करती थी; कभी वह उन खंभों से लिपट जाता जिनमें आड़ लगाकर रूबिया जब-तब खड़ी हुआ करती थी और कभी वह उन ताकों और आलमारियों को चूमता जिन पर रूबिया अपनी किताबें रखती थी। वास्तव में जैकब की अवस्था रूबिया से कहीं अधिक खराब थी।

× × × ×

रूबिया ने एक खत फिर लिखा। यार लोग ताक में रहा ही करते थे। पत्र 'खत चंपतकारी सभा' के सभापति आर्थर के पास पहुँच गया। उसी तरह सभा लगी। उसी तरह खत पढ़ा गया। शोर-गुल मचा, हँसी-दिल्लगी हुई। दो-तीन पत्र रूबिया ने और भेजे, उसी तरह दो-तीन जैकब ने भेजे, पर इन बदमाशों ने सब पत्र अपने पास कर लिये। कोई भी हृदय रखनेवाला मनुष्य कल्पना कर सकता है कि इन पत्रों में क्या रहता होगा। दो वियोग-विदग्ध प्रेमी हृदयों की आग इन पत्रों के पृष्ठों पर उगली रहा करती थी, पर इन नटखट लड़कों के हाथ में तो वे बड़ी मनोरंजक फुलझड़ियाँ थीं।

दो ढाई महीने बीत गए। रूबिया ने पाँच छः खत भेजे, एक का भी उत्तर नहीं। पत्र नहीं हृदय के टुकड़े भेजे गए थे। उनकी इतनी उपेक्षा! रूबिया निराशा की अंतिम सीमा पर पहुँच गई। उसकी वेदना असह्य हो गई, जीवन भार हो गया। उसने एक अंतिम पत्र जैकब को लिखा।

निर्दयी जैकब

तुम्हारे हृदय में मेरे लिए जो प्यार था वह कहाँ चला गया? क्या तुम्हारी केवल मुँह-देखी मुहब्बत थी? कुछ भी रही हो, मैं तो उसी को जीवन सर्वस्व समझ रही थी। निर्दयी जैकब, क्यों मेरे हृदय को बढ़ाकर तोड़ रहे हो? मेरा हृदय एक जलता हुआ चूल्हा है। उसके ऊपर प्रेम का दूध ऊबल रहा है। उफान मुँह तक आ गया है। तुम्हारे स्नेह जल के एक छींटे की आवश्यकता है। विलंब करोगे तो यह दूध उफनकर मेरे हृदय को सदा के लिए बुझा देगा। अंतिम बार पत्र भेजती हूँ। अगर चार दिन में इसका उत्तर न आएगा तो......(समझ जाओ)।

तुम्हारी भुला दी गई

रूबी

रूबिया की प्रतीक्षा का अंतिम दिन आ गया। आज दिन भर पत्र न आएगा तो वह फाँसी लगा लेगी। वह बाहर टहल रही थी, शायद कोई पत्र आ जाय। फाँसी लगाने के लिए उसने इतवार का दिन ठीक समझा था। पत्र लिखने से यही चौथा दिन पड़ता था। उसके पापा चर्च चले गए थे। दिन के ग्यारह बजे होंगे कि डाकिया आया और उसके हाथ में एक लिफ़ाफ़ा देकर चला गया। रूबिया ने देखा कि पता जैकब के ही हाथ का लिखा है। उसका दिल धड़कने लगा। खत को लेकर ऊपर के कमरे में चली गई। खोल कर पढ़ने लगी।

मालूम पड़ता था कि आँखों से खत को निगल जाना चाहती है। लिखा था—

मूर्ख रूबिया,

मेरे दिल में तेरे लिए कुछ भी प्यार नहीं है। क्यों खत भेज-भेज कर मुझे परेशान करती है। मेरे पढ़ने-लिखने में खलल पहुँचता है? मुझे धमकी देती है कि मैं प्यार न करूँगा तो तू अपनी जान दे देगी। यह गीदड़भबकी औरों को देना। मौत आएगी तो कहोगी, कि ज़रा लकड़ी का बोझ उठाकर मेरे सिर पर धर दो। खबरदार अब कभी खत न भेजना।

तुझे जो भूल गया

जैकब

यह पत्र जैकब का था? रूबिया के अंतिम पत्र का भी वही हाल हुआ जो और पत्रों का हुआ था। बदमाश लड़कों ने एक और बड़ी शरारत की। उनमें एक लड़का ऐसा था जो मास्टरों के हस्ताक्षरों की नक़ल करने से आरंभ करके अब इस दर्जे को पहुँच गया था कि दूसरों की लिखावट की हूबहू नक़ल कर सकता था। ऊपर वाला खत उसी से जैकब की हस्तलिपि में लिखाकर भेजा गया था। 'बेपरवाह' रूबिया ने मुहर न देखी। मित्रों की लिखावट पहचानकर कौन मुहर देखने का कष्ट उठाता है? अभागी रूबिया को फिर क्यों एक दूषण लगाएँ?

घावों पर नमक छिड़क दिया गया। जलती हुई चीज़ पर तेल छोड़ दिया गया। उसने लिफ़ाफ़े और खत में दियासलाई लगा दी और जब वह जलने लगा तो उसे ध्यानमग्न आँखों से देखने लगी, जैसे वह इन जलते हुए काग़ज़ों में अपने जलते हुए हृदय का बाहरी प्रतीक देख रही हो। उसने मेज़ के ड्राअर से जैकब का चित्र

निकाला। उसे भी उसी आग में डालने चली, पर रुकी। सोचने लगी, नहीं यह उस जैकब का चित्र है जो मुझे प्यार करता था। आज का जैकब जैकब नहीं रह गया। मेरे जैकब की तो मौत हो गई। मुझे भी उसी के साथ जाना चाहिए था। ओह! मैं बहुत देर तक रुकी रही। छत में फंदा पड़ा था। उसी के नीचे बैठकर उसने हाथ जोड़ कर कहा—

'पिता क्षमा करना।'

एक ही प्रार्थना में उसने दैहिक और आत्मिक दोनों पिताओं से क्षमा माँग ली।

कमरे की खिड़कियाँ और दरवाज़े फटाफट बंद हो गए।

× × × ×

सेमुएल ने रूबिया की आत्महत्या का समाचार तार द्वारा कानपूर भेजा। जैकब इसका कारण सोचने लगा। उसकी पहली शंका फिर लौट पड़ी—शायद उसके पत्र उसके पापा के हाथ लग गए, शायद उन्होंने उसे डाटा डपटा, शायद इन बातों से उसके मान और लज्जा पर भारी धक्का पहुँचा, शायद इसी कारण उसने आत्महत्या कर ली। मिसेज़ हेनरी और हेनरी दूसरी गाड़ी से प्रयाग आने को हुए। उन्होंने जैकब को भी साथ ले आना चाहा। पर जैकब ने चलने से इन्कार कर दिया। वह डरा, सोचने लगा, कहीं मैं ही इस आत्महत्या का कारण हुआ तो सेमुएल और अपने माँ बाप को क्या मुँह दिखाऊँगा। मेरे सब खत सेमुएल के पास होंगे। ओह! मैंने न जाने क्या क्या लिख दिया था। ये सब पत्र वे मेरे बाप माँ को दिखाएँगे। दिखाएँगे तो मुझे क्या परवाह? मान, अपमान, लज्जा की चिंता उसे हो जिसे जीना हो। जब प्यारी रूबी ही इस दुनिया को छोड़ कर चल दी तो मेरे लिए अब यहाँ क्या रक्खा है? मैं भी वहीं चलूँ जहाँ प्यारी रूबी गई

है, जल्दी ही चलूँ नहीं वह मुझसे बहुत दूर निकल जायगी। मौक़ा बना है, घर ख़ाली है।

हेनरी और मिसेज़ हेनरी जब प्रयाग आए तो आत्म-हत्या के संबंध में उन्हें केवल इतना पता लगा कि उनके पुत्र की तस्वीर रूबिया के सीने में पाई गई थी, पास ही एक जला हुआ ख़त पड़ा था। यह जान कर उन्हें बड़ी लज्जा आई। घर चलकर जेकब की पूरी-पूरी ख़बर लेने का विचार कर रहे थे। तीसरे दिन वे सेमुएल को भी साथ लेकर कानपूर पहुँचे। घर का दरवाज़ा भीतर से बंद था। बहुत आवाज़ें दीं, बहुत बुलाया, पर कोई न बोला। दरवाज़ा चीरा गया तो तीनों के तीनों दहाड़ मारकर रोने-चिल्लाने लगे। यहाँ भी वही दृश्य था। जेकब का मृत शरीर छत की रस्सी में लटकता सड़ रहा था। सीने पर रूबिया की तस्वीर थी, नीचे एक ख़त जला पड़ा था (यह रूबिया का पहला ख़त था)।

× × × ×

हेनरी मिसेज़ हेनरी और सेमुएल अब एक ही मकान में रहते हैं। बुढ़ापा अब जल्दी-जल्दी उनपर आता जाता है, कमर झुकती जाती है, आँखों से कम दिखाई पड़ने लगा है। उनके चारों तरफ़ अंधकार ही अंधकार है। वे जी नहीं रहे हैं किसी तरह जीवन की गाड़ी ठेल रहे हैं। शाम को जब अपने बरामदे में तीनों एक लाइन में कुर्सी रख कर उदास बैठते हैं तो ऐसा मालूम होता है मानो किसी ने तीन वृद्ध पक्षियों के परों को नोच लिया है और वे लाचार पड़े हैं।

रूबिया की आत्महत्या की जाँच करने के लिए जब पुलिस आई तब तो लड़के कुछ डरे अवश्य, पर उन्हें रूबिया के मरने का कुछ भी शोक न हुआ। इससे उन लोगों ने लाभ ही उठाया है। मकान ख़ाली हो गया है। इसी में उनका 'शरारती क्लब' स्थापित है। जहाँ कोई

किराए पर उस मकान को लेने के लिए आता है, ये सब मिलकर उसे भड़का देते हैं, 'न बाबा, कभी भूलकर भी इस मकान में न आना। एक मिस साहबा ने इसमें खुदकुशी कर ली थी। वे चुड़ैल होकर इसी में रहती हैं।''

दुष्टों ने कभी न जाना कि दो व्यक्तियों की मृत्यु और तीन व्यक्तियों का जीवन मृत्यु से भी बढ़कर दुखदायी बना देने का उत्तर-दायित्व उन्हीं के ऊपर था।

हृदय की आँखें*

उस दिन दर्पण पर कुछ अधिक समय तक दृष्टि जमी रह गई। ऊपरी होठों पर कुछ श्यामता का आभास हुआ। मुझे कुछ शर्म सी लगी। मैंने अपने मन में प्रश्न किया—क्या मैं यौवनावस्था में प्रवेश कर रहा हूँ ? फिर तो जब कभी मैं दर्पण के संमुख जाता, तो पहले मेरी दृष्टि उसी श्यामता पर जाती, जिसने पहले पहल मुझे यौवनागमन की मूक सूचना दी थी। समय बीतता गया। वह श्यामता और अधिक-अधिक घनीभूत होती गई।

शारीरिक परिवर्तन के साथ मन में भी परिवर्तन होने लगे। उसमें अब नवीन उमंगों तथा नूतन कल्पनाओं ने स्थान करना आरम किया; पर यह एक स्थान पर रहने वाली वस्तुएँ नहीं हैं। उमंगें उभरना चाहती हैं, कल्पनाएँ उड़ना चाहती हैं; पर मैंने कोई निकास न बनाया था। कल्पनाएँ एक से एक बढ़कर सपने दिखलातीं। उमंगें कहतीं—कोई भी स्वप्न मैं तुम्हें अनुभवगम्य करा सकती हूँ। मेरी दशा उस बालक के समान थी जो एक खिलौने की ऐसी दूकान पर खड़ा कर दिया जाय, जिसके सभी खिलौने उसे पसंद हों, और वह यही सोचता खड़ा रहे, कि कौन ले और कौन छोड़े। मैं अपने मन से कुछ निश्चय न कर सका।

पर दूसरों ने मेरी सहायता की। मेरी जन्म-कुंडलियाँ माँगी जानी लगीं। मैं समझ गया कि अब मेरा विवाह होगा। विवाह संबंधी सैकड़ों प्रश्न मेरे मन में उठने लगे। मुख्य प्रश्न यह था, कि कैसी स्त्री

* हंस, जनवरी, १९३१

से मेरा विवाह होगा ? इस प्रश्न के साथ ही मेरी कल्पनाओं को एक मार्ग मिल गया। वे अनेक प्रतिमाएँ खींच-खींच कर मेरे सामने रखने लगीं। उमंगें कहतीं—जिस किसी को प्राप्त करने की तू इच्छा करेगा, तुझे मिल जायगी। वाह रे नौजवान-दिल के हौसले ! तेरे हाथ कितने लंबे हैं ! उसकी उँगली उस प्रतिमा की ओर उठ गई जो सब से सुंदर थी।

मैं किस श्रेणी के समाज में था, कैसी परिस्थितियों में था, मेरी अभिलाषा पूर्ण होने में कितनी कठिनाई थी, और मैं किस तरह उन कठिनाइयों को हटाने का प्रयत्न कर रहा था—इन सब बातों के जानने के लिए, एक छोटी सी घटना का वर्णन करना पर्याप्त होगा।

एक दिन की बात है कि मेरे यहाँ मेरे एक संबंधी के घर की बूढ़ी औरत आई; लेकिन मैं उससे परिचित न था। मैं उसके सामने से हो कर निकला। माता जी बोलीं—तुम तो कोई नाता-रिश्ता पहचानते ही नहीं; यह बुआ दादी लगती हैं, प्रणाम करो। मैंने प्रणाम किया। बूढ़ी ने मुझे ऊपर से नीचे तक देखा। बोली—बेटा तो बड़ा हुआ अब कोई ब्याह क्यों नहीं ठहरातीं। माता जी ने मेरी ओर देखा, उनकी आँखों से पुत्र-अभिमान टपक रहा था, जो प्रायः भारतीय नारियों में पाया जाता है और विशेषकर पुत्रों के विवाह अवसरों पर। मुसकराते हुए बोलीं कि बुआ जी, विवाह के लिए तो दस आदमी रोज द्वार घेरे रहते हैं; पर यह ब्याह करने को खुद राज़ी नहीं होता। बूढ़ी आश्चर्य से बोल उठी—अरे कोई अपने विवाह के विषय में भी बोलता है।

हमारे यहाँ तो विवाह इस तरह होते हैं, कि दूल्हे दुलहिन की पहली भेंट सुहाग-रात के दिन होती है। चाहे वे एक दूसरे को पसंद हों या न हों, उन्हें जीवन पर्यंत एक दूसरे को प्यार करने का स्वाँग भरना पड़ता है; पर मेरी अभिलाषाएँ ऊँची थीं। मैं हिंदू विवाह को

अन्यायपूर्ण रीति समझता था। वह एक अटूट बंधन है, मृत्यु-पर्यंत का संबंध है। मुसलमानों में तलाक़ की प्रथा है। ईसाइयों में विवाह-विच्छेद होते हैं; पर उन्हें स्वतंत्रता है कि वे अपनी भावी पत्नी को विवाह से पूर्व देख लें, बात-चीत कर लें, पसंद कर लें। उचित तो यह था कि हिंदू-समाज इससे भी अधिक स्वतंत्रता भावी पति-पत्नी को एक दूसरे से संतुष्ट होने को देता; परंतु यहाँ तो पत्नी का नाम तक पूछना बेशरमी और बेहयाई समझी जाती है। मैं एक ही तीर चला सकता था। इसे ही मुझे अपने आदर्श तक पहुँचाना था। मैं भाग्य का आश्रय लेकर किसी अज्ञात दिशा में इस तीर को नहीं छोड़ना चाहता था। एक बार संभवतः मैं अपने लक्ष्य को देख कर भी इसे छोड़ने में हिचकता, फिर जब लक्ष्य की गंध भी न मिलती हो उस समय तीर चलाने की इच्छा करना भी असंभव था; पर मैं इतना मूर्ख न था जो ऐसी प्रतिज्ञा कर बैठता कि जब तक हिंदू समाज इतनी उदारता न प्राप्त कर लेगा तब तक मैं अविवाहित रहूँगा। तब तो मुझे भीष्म-पितामह को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाना पड़ता। मैं विवाह करना चाहता था। मैं अपनी आदर्श-प्रतिमा से कुछ हटने को भी तैयार था; क्योंकि मुझे मालूम था, कि आदर्श सदा आदर्श ही रहा करते हैं; पर यह मेरा पक्का इरादा था, कि मैं एक अत्यंत सुंदर स्त्री से ही अपना ब्याह करूँगा। प्राचीन प्रथा के अनुसार मैं अपनी भावी पत्नी को बिना देखे, बिना पसंद किये, विवाह करने को कदापि उद्यत न था। मैं इस युद्ध के लिए अपनी सारी शक्तियों को संपन्न करने लगा। विवाह करने से इनकार करने से ही एक प्रकार से युद्ध छिड़ गया। मैं अपने मित्रों से कहा करता था कि मेरी पत्नी एक आदर्श पत्नी होगी; पर अपने पाठकों को मैंने यही बतलाया है कि मैं एक सुंदर पत्नी चाहता था; लेकिन वे यह न समझें कि मैं एक इतने छिछले हृदय का आदमी हूँ। एक पत्नी का यदि यही आदर्श

होता तो सचमुच बहुत छोटा आदर्श होता; पर बात ऐसी न थी। इस छोटी सी बात के पीछे मैंने एक बड़ी भारी फ़िलासफ़ी समझ ली थी। अवश्य ही वह एक नवयुवक की बुद्धि की उपज थी, और संभव है, बड़े-बड़े लोग उसमें त्रुटियाँ बताएँ; पर नवयुवकों के लिए वह आज भी सर्वथा सत्य प्रतीत होगी।

वह फिलासफ़ी थी कि वाह्य सौंदर्य एक अमूल्य वरदान है और वह परमेश्वर की ही कृपा से प्राप्त होता है। प्राचीन दार्शनिकों का मत था कि मनुष्य का वाह्य जितना ही सुंदर होता है, उसका अंतःकरण उतना ही कुरूप होता है। मेरा विचार था, कि शारीरिक सौंदर्य आत्मिक सौंदर्य की छाया है। जिसका मन निर्मल, निर्विकार और निष्कपट होता है, उसका शरीर भी दीप्तिमान, चित्ताकर्षक और मनोहर होता है। मेरी फिलासफ़ी यह भी कहती थी कि सुंदर मुखवाले का स्वभाव भी सभ्यता-पूर्ण और शिष्टाचार-मय होता है। वह व्यावहारिक जीवन में भी दक्ष होता है। निष्कर्ष यह कि मेरी फिलासफ़ी में वाह्य सौंदर्य ही प्रथम और अंतिम शब्द था। मैं स्वयं सुंदर था। मैं समझता था सुंदर स्त्री को ही मुझे पाने का अधिकार है।

लेकिन मुझमें कुछ कमज़ोरी थी। मैं सामने से ताल ठोंककर नहीं लड़ता था। मैं केवल यह कहता जाता था कि मैं विवाह न करूँगा, मैं विवाह न करूँगा। मुझे मालूम था कि मेरे पिता जी को यह जानने की अभिलाषा होगी कि मैं क्यों विवाह नहीं करना चाहता। उनसे अपनी इच्छा कह सुनाने की मेरी हिम्मत न पड़ती थी। मुझसे पूछने में वे स्वयं संकोच करते थे। मुझे मालूम था कि वे किसी दूसरे से पुछवाएँगे कि मैं क्या चाहता हूँ। मैंने अपनी अभिलाषा प्रकट कर दी। बात उनके कानों तक पहुँच गई। मैं तो यह चाहता ही था। यह बात सुन-कर पुराने दक़ियानूसी ख्याल के पिताजी क्या सोचते हैं, यह सभी

जानते हैं। उन्हें मेरी बात बिल्कुल न भाई। एक सप्ताह तक न जाने किस सोच में पड़े रहे। संभवतः यह सोच रहे होंगे, कि अपने विचार सीधे मुझपर प्रकट करें, या किसी और से कहलाएँ। अंततोगत्वा जब एक दिन मैं अपने कमरे में बैठा था, तो वे चले आए और कहने लगे, "देखो, नवजवान आदमी हमेशा ख़ूबसूरती ही को पसंद करता है, पर उसको मालूम नहीं है, कि ज़िंदगी सिर्फ़ औरत का मुँह देखने के लिए नहीं है। ज़िंदगी एक लड़ाई है, जो सिर्फ़ ख़ूबसूरती के हथियार से नहीं लड़ी जा सकती। औरतों में और और गुण-ढंग होने चाहिए, जिनके बग़ैर घर का काम-काज नहीं चल सकता। हमें तो घर-गृहस्थी-लायक़ लड़की चाहिए—ख़ूबसूरत लड़की लेकर क्या नचाना है?"

उन्होंने जिस बात से चाहा था कि मैं सुंदर स्त्री मिलने की अभि-लाषा छोड़ दूँ, उसी बात ने मुझे अपनी अभिलाषा में और भी दृढ़ बना दिया। मैं सोचने लगा—यदि जीवन एक संग्राम-क्षेत्र है तो क्या यह और भी आवश्यक नहीं कि मनुष्य जब यहाँ से लौटे तो थोड़ी देर के लिए एक ऐसी प्रतिमा के सामने खड़ा हो जाय जिसके क्षणिक स्पर्श से उसकी सारी थकावट दूर हो जाय। अथवा यह अधिक सुखप्रद होगा कि वह आकर एक ऐसी स्त्री के समक्ष खड़ा हो जिससे न उसे प्रेम हो और न जिसका दर्शन उसकी आँखों को प्रिय लगे। मुझे धुन थी कि सुंदर स्त्री ही का प्रेम भी सुंदर हो सकता है। कुरूपा का प्रेम भी कुरूप होगा। सौ बात की एक बात, मैं सुंदर था, मैं सुंदरी चाहता था। मुझे इस बात का पूरा विश्वास था, कि सुंदर स्त्री ही मुझे प्यार कर सकती है। कुरूपा स्त्री मुझे प्यार करने के स्थान पर मुझसे डाह करेगी। मेरा सौंदर्य उसे असह्य होगा। मैं अपने विश्वास पर दृढ़ रहा।

पिता जी को मेरा लोहा मानना पड़ा। अब कोई मेरी शादी के

लिए आता, तो कहते—'साहब, लड़के को जब तक लड़की पसंद न हो, मैं शादी नहीं तै कर सकता। नई रोशनी के लड़के ठहरे—मैं लाचार हूँ।' कइयों ने तो इसमें अपना अपमान समझा। कई इस बात पर राज़ी हुए कि दूल्हे के अलावा कोई और लड़की को देख ले; मगर मैं किसी दूसरी शर्त पर राज़ी न था। मुझे दूसरे पर विश्वास ही न था। ज़िंदगी भर की बात थी साहब; इसमें तो अपनी आँखों तक को गड़ाकर देखने की आवश्यकता थी, मैं दूसरे पर कैसे भरोसा कर लेता?

होते-हवाते एक साहब आए, बड़े चलते पुर्ज़े, बड़े बातूनी। बात-बात पर फ़ारसी के अशार पढ़-पढ़कर हवाला देते। शादी की बात छिड़ी। पिता जी ने शर्त कह सुनाई। फ़ौरन् राज़ी हो गए, जैसे उन्हें पहले से ही मालूम था कि शर्त क्या होगी। सोचने तक को न रुके।

दूसरे दिन मैं उनके साथ लखनऊ चला। किसी को मेरे जाने की खबर न दी गई। मैंने सोचा कि इस काम में औरों से कहने की क्या आवश्यकता। संभव है मेरे पसंद लड़की न आई तो दूसरे लोग भी उससे शादी करने में हिचकेंगे। सवेरे गाड़ी पहुँची। ताँगे से हज़रतगंज उनके मकान पर पहुँचा। स्नान इत्यादि करके बैठा। बाबू साहब ने मुझसे कह दिया था, कि लड़की खाना परोसने आएगी। मैं खाना खाते वक्त चश्मा नहीं लगाता—मेरी आँखें इतनी कमज़ोर नहीं हैं; पर आज मुझे सौंदर्य देखना था, अपने जीवन का चिर संगी पसंद करना था। मैंने चश्मे को साफ़ करके आँखों पर चढ़ा लिया, कहीं आँखें धोखा न दे जायँ। मेरे जी में पल-पल कौतूहल बढ़ रहा था।

मैं बैठा था। बिजली-सी सामने आई, चमकी, और चली गई, और मैंने अनेक प्रकार के व्यंजन अपने सामने रक्खे देखे। मैं आश्चर्य

में पड़ा ही था, कि पर्दा फिर खुला। इस बार मैंने उसे मुसकराते देखा। एक अजीब विजयिनी की-सी मुसकान थी। उसने कुछ कहा अवश्य; लेकिन मैं तो उसका बोलना देखने लगा—सुनना भूल गया। शायद उसने कहा—'खाइए, पिता जी आते हैं।' खड़ाउओं की आवाज़ के साथ पर्दा खुला और बाबू साहब आ गए। मैंने खाना आरंभ किया। सोचता जाता था—जिसका सोना खरा है, उसे क्या भय, जो चाहे परख ले। तभी तो इतनी जल्दी अपनी लड़की दिखाने को तैयार हो गए।......

जेहि पर जेहि कर सत्य सनेहू,
सो तेहि मिलत न कछु संदेहू।......

बाबू साहब ने पूछा—'कहिए साहब...?' इसका पूरा अर्थ यह था, कि कहिए साहब लड़की पसंद है? मेरे मुँह में एक कौर था। मैंने मुसकरा दिया। मैंने समझा, कि मैंने अपने मन का भाव व्यक्त कर दिया। वे भी समझ गए। मेरे साथ ही मेरे यहाँ आए और मेरा विवाह तय हो गया। तारीख बँध गई।

मैं अक्सर सोचता—वह सुंदर है, बड़ी सुंदर है। उसका मन सुंदर होगा, उसका स्वभाव सुंदर होगा, उसके विचार सुंदर होंगे, उसका प्रेम सुंदर होगा, उसके काम सुंदर होंगे, मैं ईश्वर को धन्यवाद देता, कि उसने मेरी एक विनय स्वीकार कर ली, मेरी एक इच्छा पूर्ण कर दी। जैसे-जैसे विवाह के दिन समीप आने लगे, वैसे-वैसे मेरी इच्छा इस सुंदरता को छूने की होने लगी। कभी मैं सोचता—यहाँ उसमें इतनी चंचलता न रहेगी। यहाँ वह धीर-पूर होकर चले-फिरेगी। चंचलता भी तो सौंदर्य्य का एक अंग है; पर इससे क्या, उड़ती तितली अच्छी लगती है, तो क्या बैठने पर उसके पर सुंदर नहीं लगते?

मेरा विवाह हो गया—वही पुराने रस्म-रिवाजों के अनुसार। वे

मुझे एक भी पसंद न थे; पर मैं एकदम से उलट-पलट नहीं कर सकता था। एक बात कर डाली थी, सो भी चाहता था कि छिपी रहे; पर वह चारों ओर फैल गई। सबों से न जाने किसने बता दिया कि मैंने लड़की को देखकर विवाह किया है। विवाह संस्कार में मैं कुछ भी आनंद न ले रहा था। बस यह समझता था, कि इतने अड़ंगे मेरे और मेरी पत्नी के बीच में पड़े हैं—ये किसी तरह हटें, तो मैं उसके पास पहुँचूँ।

आखिरकार एक समय आया जब मुझे सूचना दी गई कि आज मेरी सुहाग रात होगी, मेरे हर्ष की सीमा न रही। जो बिजली एक दिन मेरे सामने से चमककर निकल गई थी उसे मैं आज बादल बनकर अपनी गोद में छिपा लूँगा! समय आ गया, वही समय जिसकी प्रतीक्षा मैं बहुत दिनों से कर रहा था।

दरवाज़े पर भावजों ने काफ़ी तंग किया। खैर, उनसे किसी तरह छुट्टी पाकर भीतर गया। वह एक डेढ़ हाथ का घूँघट निकाल कर बैठी थी। मेरा जी धक-धक कर रहा था। किस तरह बात-चीत शुरू की जाय! मुझे मालूम था, कि मुझे ही कुछ छेड़-छाड़ शुरू करनी होगी। नहीं तो ये श्रीमती जी यों ही रात भर मूर्तिवत बैठी रहेंगी। मेरे पास बात शुरू करने की एक सामग्री थी। मुझे मालूम नहीं कि अगणित हिंदू-पति-पत्नी किस प्रकार अपना प्रथम परिचय आरंभ करते हैं। मैंने पूछा, 'प्रिये, तुम्हें उस दिन की बात याद है, जब तुमने मेरे लिए खाना लाकर रक्खा था?'

मैंने समझा था कि अगर बोलेगी नहीं, तो कम से कम सिर तो हिला देगी, पर उसने कुछ भी न कहा, न किया। मैंने ज़रा घूँघट खोलने का प्रयत्न किया, पर असफल रहा। कस कर थामे हुए थी।

मैंने कहा—अच्छा, मैं हार मान गया, अब तो ज़रा दर्शन दे दो।

फिर भी कोई उत्तर न मिला। मैंने धीमे से उसका एक हाथ कपड़ों में से निकालकर अपने हाथ पर ले लिया। अनेक आभूषणों से सारा हाथ ढका था। तिसपर भी कहीं-कहीं त्वचा दिखलाई पड़ती थी। उसका रंग साँवला था। मुझे आश्चर्य्य हुआ। अरे, इसका गोरा-गोरा सा हाथ साँवला कैसे हो गया! जो मैंने ऊपर आँखें उठाईं, तो देखता क्या हूँ, कि वह अपने दूसरे हाथ को अपनी आँखों पर रखकर सिसक-सिसककर रो रही है। मैं घबराकर पूछने लगा—'क्यों रोती हो? क्या बात है?' उसने काँपती हुई आवाज़ से कहा, 'मैं वह नहीं हूँ, जिसने आपको खाना परोसा था।' मैंने आश्चर्य्य से कहा, 'हैं! हैं! क्या कह रही हो?' उसने सिसकते हुए कहा, 'मेरे पिता ने आपको धोखा दिया, एक दूसरे की सुंदर कन्या को दिखाकर मुझसे आपका विवाह कर दिया।'

इन शब्दों के पश्चात उसने अपना मुहँ अपने आप खोल दिया: यह दिखलाने के लिए नहीं कि वह कैसी है, वरन यह देखने के लिए कि उसकी बात का मेरे ऊपर क्या असर हुआ? मुझे कितना क्रोध आया, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता; पर साथ ही इस बात का ध्यान आया, कि अब किया क्या जा सकता है? अटूट बंधन तो मेरे गले छल से, कपट से, किसी तरह पड़ ही गया। मैं उसके मुँह खोलते ही उसकी ओर देखने लगा, कि आखिर जो मेरे भाग्य में पड़ गई है वह कैसी है। उससे यह कितनी कम सुंदर थी, इसे बताना असंभव है। सुंदरता कोई आलू-बैंगन तो है नहीं कि उसकी तौल करके बता दूँ, कि वह इतनी थी और यह इतनी। मन की हो तो इंदिरा और बे मन की हो तो मंथरा। सुंदरता की तराज़ू में यही दो पलड़े हैं। केवल यही कह सकता हूँ, कि यह वैसी न थी। मेरे दिल को बड़ा भारी धक्का लगा। मैंने होंठों को दाँतों से दबाते हुए कहा—'इतना छल! इतना कपट!! इतनी धोखेबाज़ी!!!' मैं कुछ देर तक चुप बैठा रहा। इतने में वह मुझसे बोली—'आप मुझपर क्रुद्ध हैं?' मैंने कहा, 'ज़रा भी नहीं।'

मैं अपने शब्दों में उतना ही सत्य हूँ जितना अपने भावों में, इस बात को प्रदर्शित करने के लिए मैंने उसका हाथ अपने हृदय से लगा लिया। इस बेचारी का क्या अपराध था! इसने मेरे साथ कोई छल नहीं किया था। मैं इतना पशु नहीं था, कि उस निरपराध बालिका के प्रति किसी प्रकार का भी मनोमालिन्य अपने मन में रखता। उसे दोषी ठहराने का विचार क्षणमात्र के लिए भी मेरे मन में न आया। वह ऐसे विनीत भावों से आँखों में आँसू भरे बैठी थी कि मुझे उसपर दया सी आ गई। मैंने उसका हाथ चूम लिया। उसने फिर पूछा—'क्या आप मेरे पिता पर क्रुद्ध हैं?' मैंने कहा—'अवश्य।' उसने फिर पूछा, 'तो अब आप क्या कीजिएगा?'

मैं कुछ कहनेवाला था पर रुका। मैं कोई ऐसा उत्तर न देना चाहता था जिससे उस बालिका का हृदय दुखे। मुझमें प्रत्युत्पन्नमति विशेष रूप से वर्तमान है। मेरे मुँह से निकल पड़ा—'जो तुम कहो।' वह बोली, 'आप उनपर क्रुद्ध न हों, और न कुछ करें, न उनसे कुछ कहें। उनका अपमान मेरे महान दुःख का कारण होगा। मेरी माता बचपन में ही मर गई थीं। उनमें मेरा मातृस्नेह भी संचित है। मेरी निर्बलता के कारण यह सब हुआ। मैं जानती थी कि आप से छल किया जा रहा है। मैं यह सोचकर प्रायः घबरा उठती थी कि कौन मुँह लेकर मैं आपके सामने आऊँगी। मुझे देखते ही किसी व्यक्ति की चिर-संचित आशाओं पर पानी पड़ जायगा। मैं सच कहती हूँ, कई बार इस बात को सोचकर मैं बेहोश हो गई। एक दिन तो मैंने सोचा कि क्या ही अच्छा हो कि मैं विवाह से पूर्व ही मर जाऊँ। फाँसी तक लगाने को तैयार हुई, पर फिर यह सोचकर रुक गई कि मेरी मृत्यु से आप तो यही समझेंगे कि आपकी आदर्श प्रतिमा स्वर्ग प्रयाण कर गई। इसका आपके ऊपर कोई अनिष्टकारी प्रभाव न पड़े, इसी कारण मैंने जीवित रहने का कष्ट उठाया है; लेकिन अभी एक बात ऐसी हो

सकती है जिससे इस कपट व्यहार का पूर्ण रूप से परिशोध हो सकता है।' मैंने चट पूछा, 'वह कौन सी बात है?' वह रुकती हुई आवाज़ से बोली, 'मुझे कहीं से विष ला दीजिए, मैं अपने मायके में जाकर खा लूँगी और आप अपना दूसरा ब्याह कर लीजिएगा; पर इस बार अधिक सचेत रहिएगा—संसार बड़ा ठग है।'

मेरा हृदय काँप उठा। मैं सोचने लगा—मैं किसी स्त्री के पास बैठा हूँ कि किसी देवी के। मेरा दृष्टि-बिंदु उसके कपोलों पर से हटकर उसके हृदय के अंदर चला गया। वहाँ मुझे एक सुकुमार और सुकोमल हृदय के दर्शन हुए जिसमें सिवा आत्म-त्याग और आत्म-बलिदान के कोई और भावना न थी। मैं सोचने लगा—इसका हृदय कितना विशाल है कि अपने विशुद्ध बलिदान से अपने पिता के मान और मेरे अरमान की रक्षा करना चाहती है। मुझे ज्ञात नहीं कि कितनी देर तक मैं इन विचारों में पड़ा रहा। एकाएक जो फिर उसके मुख पर दृष्टि गई, तो जो मुख पहले असुंदर मालूम पड़ा था, उसपर ऐसी अनोखी आभा थी कि उसपर सैकड़ों सुंदरियों को निछावर करने का जी चाहता था।

मैं एकदम से चौंक पड़ा। अरे, मैं उसकी बात पर चुप रह गया। इस चुप का उसने क्या अर्थ समझा होगा? यही न, कि मैं उसके प्रस्तावानुसार उसे विष ला देने को तैयार हूँ; या इस विचार में पड़ गया कि किस प्रकार यह कार्य संपादन किया जाय। अरे, मैंने चुप होकर बड़ी ही नीचता प्रकट की। इस चुप का मतलब और क्या निकल सकता था। अल खामोशी नीम रज़ा। मैं अपने विचारों में लीन था कि वह बोल उठी—'मरते समय ईश्वर से यही एक विनय करूँगी कि आपको एक बड़ी सुंदर......। मैं अब अपने को न रोक सका। बात काटकर बोल उठा, 'प्रिये! अब तो तुम्हीं मुझे सुंदर लगती हो।'

विवाह में हमारे यहाँ जल्द ही बिदा की रस्म है। बुलावा आया। मैंने न भेजा, अब कभी न भेजूँगा। मैं अपनी सुसराल अब तक नहीं गया और न जाऊँगा। मेरे ससुर जी को अपने कपट-व्यवहार पर इतनी शर्म लगी कि कभी मेरे यहाँ नहीं आए। उनका ख्याल है कि मेरे यहाँ उनकी कन्या को बड़ा कष्ट दिया जाता है। उनके किए हुए कपट-व्यवहार की कम-से-कम यही सज़ा सही।

पर पाठक कहेंगे कि यह अच्छा अपनी सुसराल का ज़िक्र छेड़कर चलते बने—कहाँ गई आपकी वह फ़िलासफ़ी जिसमें बाह्य सौंदर्य ही जीवन में प्रथम और अंतिम शब्द था? पर मैं तो अब भी कहता हूँ, कि मेरी फिलासफ़ी का एक-एक शब्द सत्य है और सदा रहेगा। उसमें कहाँ अंतर आया? सौंदर्य को देखने की आँखें भी दो प्रकार की होती हैं—एक चेहरे के ऊपर और एक हृदय के भीतर। उस फ़िलासफ़ी में अब सिर्फ़ इतना ही और जोड़ना चाहता हूँ कि कदाचित 'हृदय की आँखें' ऊपरी आँखों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होती हैं।

धर्म-परीक्षा

एक छोटे से घर में एक ब्राह्मण और ब्राह्मणी रहते थे। ब्राह्मण का नाम रामदास था। वह जाति से तो ब्राह्मण था, पर कर्म से ब्राह्मण न था। फिर भी स्वभाव में ब्राह्मणत्व के कुछ संस्कार तो प्रविष्ट ही थे। पढ़ा लिखा तो उसने कुछ ऐसा न था पर साधु-सङ्गत से कुछ शास्त्र-पुराण की बातें सुन रक्खी थीं और यथा संभव वह उन्हें जीवन में प्रयुक्त करने की अभिलाषा भी रखता था। वह एक दफ़्तर में दरबान का काम करता था, दस रुपए पाता था। ब्राह्मणी को अपने पुराने यजमानों के यहाँ से सीधे इत्यादि मिल जाया करते थे। इसी में निर्वाह होता था। ब्राह्मण के दो-एक बाल-बच्चे भी थे।

ऐसा छोटा वेतन पानेवाले लोग प्रायः प्रति दिन अपनी खाने पीने की समग्री मोल लेते हैं पर ब्राह्मण का अनुभव था कि इकट्ठा सामान खरीदने में किफ़ायत होती है, रोज़-रोज़ के लेने में बरकत नहीं होती और अंत में चलकर खर्च अधिक ही बैठ जाता है। इसलिए वह महीने भर का सामान घर में लाकर रख देता था।

महीना समाप्त हो गया था। ब्राह्मण को वेतन मिल चुका था। घर का अनाज-पानी दो-एक दिन पहले से ही समाप्त हो चुका था। ब्राह्मण जब दफ़्तर से लौटा तब ब्राह्मणी से कहने लगा, 'आज अनाज लेने जाऊँगा। क्या-क्या मँगाना है, बता दो।' ब्राह्मणी ने सब चीज़ें बता दीं—इतना गेहूँ, इतना चना, इतनी दाल, इतना नमक इत्यादि-इत्यादि। ब्राह्मण बड़े यत्न से नोट को फेंट में बाँधकर बाज़ार चलने को हुआ। दरवाज़े तक वह गया होगा कि फिर लौट आया। बोला—'मुल्लू की

माँ, पैसे भर आटा हो तो दे दो, रास्ते में चीटियों की बिलों पर भुर-काता जाऊँ।'

ब्राह्मणी ने आँखें ऊपर उठाकर उसे देखा और चुप रही। ब्राह्मण फिर बोला, 'जा मटकियों को झार-झूर, मिल जायगा, पैसे भर ही तो चाहिए।'

ब्राह्मणी अब तो कुछ क्रोधित होकर बोली, 'आँख में अंजन करने भर को तो आटा है नहीं, इन्हें चीटियों के लिए आटा चाहिए। जाओ जब गेहूँ आएगा और पीसकर रख दूँगी तब सेर दो सेर जितना चाहना जाके चीटियों की बिलों पर उँडेल आना।'

ब्राह्मण चुपचाप बाहर आया, बाज़ार की ओर चला। रास्ते में उसके एक-आध साथी मिले। किसी से वह पूछता, 'गेहूँ का आज-कल क्या भाव है ?' किसी से पूछता, 'जौ आज-कल के सेर का है ?' वह मन में अपने रुपए का हिसाब-किताब बैठाता चला जाता था। ऐसी खरीद करने का विचार कर रहा था कि दस रुपये के अंदर ही सब चीज़ें मिल जायँ और कुछ बच भी रहे।

× × × ×

सड़क के एक किनारे पर कई लोग जमा थे, ज़्यादातर मुसलमान लोग थे। ब्राह्मण ने देखा कि असाधारण जमाव है। स्वाभाविक ही उसके जी में आया कि देखना चाहिए क्या बात है। फिर उसने मन में सोचा—होगा कुछ, मुझसे क्या मतलब, अभी बाज़ार जाना है, सौदा-सुलुफ़ लेना है, देर ही हो रही है।'

भीड़ में एक शब्द निकला 'म्याँ......' ब्राह्मण ने उसे सुना। किसी गाय की आवाज़ थी। उसने अपने मन में कहा कि एक गाय के चारों तरफ़ इतने आदमी क्यों इकट्ठे हैं ? और फिर ये ज़्यादातर

मियाँ लोग हों ? उसने सोचा ज़रा चलकर देखना चाहिए। भीड़ कुछ ऐसी न थी कि ब्राह्मण को अंदर जाने में कुछ कष्ट उठाना पड़ता। उसका शरीर दुबला-पतला पर दृढ़ था पर उसने एकाएक धँसना उचित न समझा। बाहर की ओर जो आदमी खड़े थे उन्हीं में से एक को अपनी ओर संबोधित करके उसने कहा :—

"भैया, क्या बात है ?"

"गाय है।"

"गाय कैसी ?"

"आओ देख न लो, डँगरी-सी है। एक अहीर बेच रहा है।"

दो-एक लोग पास से इधर-उधर खिसक गए। गाय और गाय का बेचनेवाला—दोनों ब्राह्मण के सामने हो गए। एक दुबली-पतली गाय थी। उसके गले में एक लंबी रस्सी बँधी थी। उस रस्सी का एक छोर अपने हाथ में लिए एक मोटा काले रंग का आदमी खड़ा था। वह अहीर था, सिर पर जोगिया रंग का बड़ा सा पग्गड़ बाँधे था। कानों में सोने की मोटी-मोटी लुरकियाँ डाले था। कई अशर्फ़ियाँ एक सुनहरे कलाबत्तू में गुँथी हुई उसके गले में उसकी मोटी गर्दन से खूब सटी हुई पड़ी थीं। उसके हाथ में एक बढ़िया सामी लगी हुई लाठी भी थी। पैर में जूता कैसा था यह भीड़ में दिखलाई न पड़ता था। अहीर लाठी टेककर, शान से खड़ा था।

एक मियाँ जी उससे बोले, 'क्या अपनी ही बात पर रहोगे, मुँह की माँगी तो मौत भी नहीं मिलती।"

अहीर बोला, "सोलह रुपए से कौड़ी कम की नहीं होगी, मर्ज़ी हो लीजिए, मर्ज़ी हो न लीजिए। मुझे बहुत सी झक-झक नहीं पसंद है।"

ब्राह्मण चुपचाप कुछ सोचता हुआ खड़ा रहा। समझ गया क्या

बात है। अहीर है, उसने गाय रक्खी, जितने दिनों तक गाय जवान थी, दूध देती थी, उतने दिन उसने उसका दूध दुह-दुहकर बेचा और लाभ उठाया; पर अब दूध देने योग्य नहीं रह गई, बूढ़ी हो गई तो उसे क़साई के हाथ बेचने जा रहा है। उसने सोचा कि कुछ कहूं। फिर उसने सोचा मेरे कहने से मान तो लेगा नहीं, चलो अपना काम देखें। दुनिया में तो यह लगा ही रहता है—

सुर नर मुनि की याही रीती।
स्वारथ लाय करैं सब प्रीती॥

फिर यह तो अहीर ठहरा, अहीर, गड़रिया क्या जानें दया और क्या जानें धर्म। ये तो जन्म भर बेईमानी की रोटी खाते हैं। ब्राह्मण चलने ही को था कि इतने ही में गाय ने अपनी गर्दन ब्राह्मण की ओर बढ़ा दी, जैसे गला सहलाने को कह रही हो। अपने आप ही ब्राह्मण का हाथ गाय की गर्दन पर चला गया; वह सहलाने लगा, गाय गर्दन ऊँची करती गई। फिर गाय ने गर्दन नीचे की, ब्राह्मण ने उसके मस्तक को सहला दिया। फिर उसने अपना सिर ब्राह्मण के पैर के पास कर दिया। गाय के इन स्वभावजन्य हरकतों का ब्राह्मण और ही कुछ अर्थ निकाल रहा था। उसका हृदय गाय के प्रति प्रेम से भर गया। जहाँ पहले उसने यह सोचा था कि चुपचाप चले जायँ वहाँ अब उसने यह विचार किया कि मुझे अहीर से गाय न बेचने के लिए कुछ न कुछ अवश्य कहना चाहिए, माने न माने उसकी इच्छा। वह बोला :—

"अहिर राम, इस गाय को क्यों बेचते हो ?"

ब्राह्मण माथे पर चंदन लगाए हुए था। गले में तुलसी की कंठी भी दिखलाई पड़ती थी। सूरत से ही पता लगता था कि वह कोई ब्राह्मण है। अहीर बोला :—

"हाँ महाराज, बेचने तो हैं तुमसे मतलब ?"

"मतलब क्या है, गऊ है, क्यों कसाई के हाथ बेचते हो ? जहाँ तुम्हारे यहाँ बीस-पचीस गाएँ-भैंसें खाती-पीती होंगी वहाँ एक यह भी रहेगी। कौन बड़ी जमा खाएगी ?"

"अरे महाराज ! चलो, बातें करने आए हो, ऐसे करना होता तो आज मेरे घर पचासों ऐसी बेकार गाएँ रह जातीं। जो न जानता हो उससे कहो। दान-दक्षिणा में पाई हुई न जाने कितनी गाएँ चोरी-छिपा क़साइयों के हाथ बेच आते हो, और हमें चले हो उपदेश देने। पर उपदेश कुशल बहुतेरे।"

अहीर अपनी बात खतम करके ज़रा मुसकराया। उसके चेहरे से ऐसा मालूम होता था कि मानो उसकी विजय हो गई, ब्राह्मण निरुत्तर हो गया था। वह मारे शर्म के कट-सा गया। अपनी दृष्टि नीचे किए हुए गाय की गर्दन सहलाता खड़ा रहा।

× × × ×

दो-तीन मुसलमान एक कोने में खड़े होकर बातें करने लगे।

"अमे. सोलह रुपए माँगता है, बहुत है, डँगरी सी तो है।"

"तुम कितना देते हो ईदू ?"

"भाई हम तो बारह देते हैं—और क्या चाहिए ?"

"नहीं देता तो दो रुपए और बढ़ा दो।"

ब्राह्मण ने मुसलमान खरीदारों की बात सुनी। अहीर सोलह रुपए माँगता है। ये लोग चौदह देने को आ गए हैं। अब दो रुपए की ही बात है। गाय इन क़साइयों के हाथों में जाने के क़रीब है। ब्राह्मण कुछ घबराया—आह, ईश्वर ने उसे इतना ग़रीब क्यों बनाया। उसने

सोचा, क्या गऊ माता की जान इन कसाइयों के हाथों में ही जानी बदी है? क्या अहीर इनके हाथों गाय बेचने से किसी प्रकार न रुकेगा? उसने अपने मन में कहा, सोचने-सोचने से काम न चलेगा। अभी-अभी गाय बिक जायगी, और फिर कुछ करते-धरते न बनेगा। दो-एक हिंदुओं से कहूँ, वे ही खरीद लें तो एक गाय की जान बच जाय। उसने इधर-उधर देखा। कई एक हिंदू खड़े थे। उनसे बढ़कर सब बातें उसने कहीं। पर कोई गाय लेने को तैयार नहीं हुआ। ब्राह्मण को क्रोध-सा आ गया। वह पास के आदमियों से कहने लगा—पहले धीमे-धीमे और फिर जोश के साथ—'देखो इतने हिंदू हैं, एक गाय की जान नहीं बचा सकते! कहलाते हैं राम-कृष्ण के भक्त और कृष्ण ने जिन गौओं को बन-बन चराया उनकी रक्षा नहीं कर सकते। कैसा कलियुग छाया है! कैसी दुनिया मतलब की हो गई है! जब तक छाती फाड़-फाड़ कर दूध पिलाए तब तक तो गऊ माता है और वही माता जब बूढ़ी हो जाती है तब कसाई के हाथ सौंप देते हैं, धिक्कार है ऐसे हिंदुओं को। मुसलमान गाय नहीं काटते, हिंदू लोग कटवाते हैं। तभी तो दूध दही स्वप्न हुआ जाता है, खेती बारी में आग लगी जाती है। जान लो हिंदुओ! इन गूंगी गौओं का श्राप तुम्हें बर्बाद किए देता है। कोई तो राम-कृष्ण का भक्त ऐसा निकलता जो कह देता कि—'मैं गाय लेकर उसके प्राण बचाऊँगा'।"

ब्राह्मण ने समझा था कि उसकी बातों से किसी का दिल तो पसीजेगा पर बाज़ार में वह भी एक तमाशा बन गया। एक आदमी दूर पर खड़ा था, हँसकर बोला:—

"पंडित जी महाराज, आप ही क्यों नहीं गऊ माता का प्राण बचा लेते?"

ब्राह्मण बोला, "शोक है कि मेरी औकात ऐसी नहीं है।"

वही आदमी और ज़ोर से बोला, "बस आ गया न म्याऊँ का ठौर। बड़ी-बड़ी बात तो सब चूहे कर लेंगे, पर बोलो म्याऊँ कौन पकड़ेगा? जब गाँठ से पैसा निकालने का प्रश्न आता है तब सब दुम दबाते हैं। जैसे आप समझते हैं कि आप की औकात नहीं है वैसे और लोग समझते हैं कि उनकी भी औकात नहीं है।"

ब्राह्मण फिर चुप हो गया। कुछ देर खड़ा रहा। फिर भीड़ में एक शब्द हुआ 'ब्याँ......'। ब्राह्मण ने यह आवाज़ सुनी। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो गाय ने उसी को बुलाया है। वह गाय के पास चला गया। फिर गाय ने ब्राह्मण की ओर गर्दन बढ़ाई। संभवतः पशु-पक्षी दयालु हृदय को मनुष्यों से कहीं जल्दी पहचान लेते हैं। वह उसका गला सहलाने लगा। गाय ने गर्दन ऊँची उठाई। ब्राह्मण ने उसका मुँह चूम लिया।

अहीर सोलह से उतर कर पंद्रह रुपए पर आ गया था। क़साई चौदह रुपए दे रहे थे। केवल एक रुपए का अंतर था। इस एक रुपए का अंतर ब्राह्मण को क़साई की छुरी और गाय की गर्दन का अंतर जान पड़ा। उसकी आँख से आँसू निकल पड़े। उसने उन्हें इतनी जल्दी से पोंछ डाला मानो उन्हें किसी ने देखा ही नहीं। सोचने लगा, अब जल्द ही गाय क़साइयों के हाथ में चली जायगी। एक ब्राह्मण के सामने एक गाय की हत्या होगी! हाय मेरी आँखों के सामने क़साई इसको लेकर अपने घर की ओर घसीटेंगे.........।

ब्राह्मण एकाएक चिल्ला पड़ा, "लो मैं गाय १५) में ख़रीदता हूँ—लो यह दस रुपए का नोट। बाक़ी साथ चलो घर पर देता हूँ।"

अहीर ने महान आश्चर्य भरी आँखों से ब्राह्मण को देखा। ब्राह्मण के प्रति श्रद्धा का अंकुर उसके हृदय में प्रस्फुटित हो पड़ा। समझ गया कि हाँ, यह कोई आदमी है। इसके हृदय में दया है और

इसे धर्म का ध्यान है। जब अहीर इन विचारों में मग्न था ब्राह्मण नोट निकालने में लगा था। ग़रीब अपना धन बड़े यत्न से रखता है। ब्राह्मण ने अपनी फेंट खोली. कई परतें अलग कीं, तब जाकर एक काग़ज़ में लपेटा हुआ नोट निकला। ब्राह्मण के हाथों से नोट लेते हुए अहीर कुछ झिझका। नोट लेने के लिए हाथ बढ़ाते हुए उसने उसमें एक विशेष प्रकार के कंपन का अनुभव किया। अहीर के हृदय में कोई कहने लगा, 'आज तूने एक बड़े दीन का धन अपहरण किया है।'

एक के बाद दूसरे लोग 'वाह महराज', 'वाह महराज' कहकर अपनी अपनी ओर चल दिए। जब ब्रह्मण गाय को लेकर चला तब दो-एक लोगों ने ताना भी मारा, 'अभी ताव में आकर खरीद लिया है, जब बैठाल कर खिलावेंगे तब मज़ा मालूम पड़ेगा; तबली खिसक जायगी।' ब्राह्मण चुपचाप चल पड़ा। अहीर भी साथ हो लिया।

× × × ×

जाते समय ब्राह्मण के चेहरे पर जो भाव थे उनका निदर्शन करना कठिन है; चिंता और संतोष का एक अनुपम मिश्रण था। वह सोचने लगा, 'हाँ, मैंने ताव में आकर गाय खरीद ली; फ़िज़ूल खरीदी। क्या मेरे एक गाय खरीद लेने से तमाम गायों की जान बच जायगी? एक गाय की जान बचाने से ही क्या बड़ा मतलब निकलेगा। घर पर एक फूटा दाना भी नहीं है; महीने भर का काम कैसे चलेगा? गाय को तो खिलाने के लिए चाहिए, वह कहाँ से आएगा? और अभी तो पाँच रुपए देने बाक़ी हैं, ये कहाँ से दूँगा? ब्राह्मणी के पास रुपए कहाँ से होंगे। यह सब बातें मुझे पहले ही सोचनी थीं। अब भी क्या अहीर को गाय नहीं लौटा सकता? जहाँ उसका जी चाहेगा जाकर बेच लेगा। मैंने सोचकर काम नहीं किया।' चाहता था कि मुँह खोले, पर फिर कुछ सोचकर वह चुप हो गया।

फिर उसने विचारा, 'नहीं—मैंने ठीक किया। दस आदमी के सामने ख़रीदने की बात कह दी, अब उसको कैसे पलटूँ? ब्राह्मणी के पैर में फूल के कड़े हैं, उसे गिरो रखकर शेष दाम दे दूँगा पर ब्राह्मणी ने मेरी बात न मानी तो? मुझे उधार कौन देगा? मुझपर ब्राह्मणी क्रोधित तो बहुत होगी, पर मुझे धर्म संकट में देखकर मेरी बात ज़रूर मानेगी। मेरा कोई अपराध नहीं है। मैंने गाय नहीं ख़रीदी। मुझे ईश्वर ने इसे ख़रीदने के लिए बाध्य कर दिया। भगवान्! जब मुझ में दीन-सहायक बनने की सामर्थ्य नहीं थी तो मेरे हृदय में दीनों के प्रति दया क्यों दी? इतने बड़े-बड़े महाजन थे; किसी और ने गाय क्यों न ले ली। उनके ले लेने से मुझे उतना ही संतोष होता जितना स्वयं उसका प्राण बचाकर हो रहा है। गाय पर मुझे दया आ गई। 'तुलसी दया न छाँड़िए जब लग घट में प्राण।' पर मैंने अपने बाल-बच्चों की कुछ फ़िक्र न की। वे अब भूखों मरेंगे। क्या मनुष्यों की जान बचाने को चिंता करना पशु की जान बचाने से अधिक उचित न था? अरे! राम राम! राधेश्याम! मैं 'पशु' कह गया! गाय तो माता है! गाय तो देवता है! देवता के लिये मनुष्यों की जान जाए तो कोई हर्ज नहीं; ख़ैर जो हो गया सो हो गया। राम को इस गाय की जान बचानी मंज़ूर थी, तब तो मैं वहाँ कूद पड़ा; नहीं तो भीड़ के पास मेरे जाने की आवश्यकता ही क्या थी? पर अपनी आँखों के सामने गाय की हत्या कैसे देखता, मैंने अपना धर्म पालन किया। संकट आएगा तो आए—

'सिवि, दधीच, हरिचंद नरेसा,
धर्म हेत सब सहे कलेसा।'

× × × ×

इसी प्रकार सोचते-विचारते ब्राह्मण चला आ रहा था। अहीर पीछे-

पीछे आ रहा था। वह भी कुछ गंभीर विचारों में निमग्न था। ब्राह्मण को वह बारबार सिर के पैर तक देख जाता था। रास्ते भर ब्राह्मण और अहीर में एक भी बात न हुई।

ब्राह्मणी ने घर की सफ़ाई कर रक्खी थी। सब बर्तन-भाँड़े साफ़ कर रक्खे थे। पहले से सोच रक्खा था कि किसमें दाल रक्खूँगी, किसमें जौ रक्खूँगी, किसमें गेहूँ रक्खूँगी। अनाज बनाने के सामान सूप-चलनी इत्यादि भी मुहल्ले से माँग लाई थी। घर का दरवाज़ा बंद था। ब्राह्मण ने गाय को अहीर के पास छोड़ दिया और दरवाज़ा खुलवाकर भीतर गया। उसने भीतर पैर रक्खा ही था कि ब्राह्मणी ने दरवाज़े की तरफ़ देखकर कहा—

"और अनाज ?"

"अनाज तो नहीं आ सका।"

"क्यों ? क्या खाया जायगा ? आज चार दिन से अनाज चुका है, कहीं सतुआ, कहीं चबेना खाना पड़ता है। बच्चे बिलबिलाते हैं।"

"शायद कल से वह भी नसीब न हो।"

"क्यों ?—रुपए क्या हुए ?"

"धर्म में लग गए।"

"साफ़-साफ़ बताओ क्या बात है ?"

"बात यों है कि बाज़ार में एक अहीर एक बूढ़ी गाय क़साइयों के हाथ बेच रहा था। मुझसे यह न देखा गया, मैंने उस गाय को खरीद लिया। दस रुपये जो पास थे वह तो दे दिये। पंद्रह की है। पाँच रुपये पास हों तो......"

रामदास अपनी बात भी पूरी न कर पाए थे कि ब्राह्मणी क्रोध से बोल उठी :—

"अरे ! तुम पागल हो गए हो ! बड़ा धर्म सूझा है। आदमी अपने घर में चिराग़ जलाकर तब मस्जिद में चिराग़ जलाने जाता है। पहले आत्मा तब परमात्मा, ख़ूब चले धर्म करने। खुद तो दाने-दाने को तरसते हैं और चले हैं गऊ-रक्षक बनने। कुछ अपने लिए सोचा ? कुछ इन बे मुँह के बच्चों के लिए सोचा। अरे ! गाय क्या पत्थर की है ! उसे क्या खिलाओगे ? किसने तुम्हें यह सुझाया था: या हमें भूँजने के लिए यह सब बातें बनाते हो......!" रामदास चुपचाप खड़ा रहा। ब्राह्मणी के मुँह से जो कुछ भी उचित-अनुचित निकला कहती चली गई। उसकी बातें क्रोध और आर्तता से भरी थीं। ब्राह्मण फिर बोला—

"अहीर दरवाज़े पर खड़ा है। कहीं से रुपये का प्रबंध कर......"

ब्राह्मणी फिर तीक्ष्ण स्वर में बोली।

"हाँ, मैं कमाई करती हूँ न कि मेरे पास रुपए हैं। चलो देखूँ किसने तुम्हें बौरहा समझकर लूट लिया। अरे भगवान् किसने तुम्हारी मत मार दी। आओ तो बाहर।"

इन शब्दों के साथ कालिका के समान वह उठी। तेज़ी से दरवाज़ा को खोला। उनके दीवार में ज़ोर से लगने से सारा घर गूँज उठा। ब्राह्मण उसके पीछे चुपके-चुपके बाहर आया।

पर दरवाज़े पर क्या था ? गाय के गले की रस्सी बाहर के टट्टर में बँधी थी। गाय एक अनाथ के समान खड़ी थी। अहीर का कहीं पता न था।

अहीर कहाँ गया ? वह कुछ देर तो ब्राह्मण दंपति की बातें सुनता रहा। जब उसे सारा रहस्य मालूम हुआ तो उसका हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। उसने सोचा, मेरे तृणवत् स्वार्थ के कारण एक ब्राह्मण-परिवार धर्म की बलि-वेदी पर चढ़ जायगा। उस पंद्रह रुपए से कौन

मेरे धन में बढ़ती हो जायगी ? उनके लिए तो यह पंद्रह रुपया उनके जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित करता है। यदि मेरे कारण इतना बड़ा धर्मात्मा संकटापन्न है तो मैं बड़ा पापी हूँ। उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसके पैर काँप रहे हैं। उसने सोचा, क्या मैं इतना बड़ा पापी हूँ कि मुझसे पृथ्वी दबी जा रही है। वह क्षण भर भी खड़ा न रह सका। वह भगा—

ब्राह्मणी किसी को वहाँ न देखकर बोली :—

"यहाँ तो कोई नहीं है। कोई ठग था ठग। तुम्हें लूट ले गया। उसने सोचा होगा भागे भूत की लँगोटी ही सही। मरकुटही गाय के दम ही सही। तुम्हें चाहिए कि जाके थाने में रपट लिखा दो।"

ब्राह्मण ने कहा, "अहीर हमारे साथ आया था। मैंने अपनी आँखों से देखा था कि बाज़ार में उसे चौदह रुपये मिल रहे थे। कहीं चला गया होगा, फिर लौटकर आएगा, दाम ले जायगा।"

जब दाम होगा तब तो ले जायगा। मैं यह कहती हूँ कि तुम्हें घर-बार का ध्यान कुछ भी न रह गया। तुम कैसे हो गए थे उस समय ? आज भाँग तो नहीं पी ली थी ?"

ब्राह्मण की आँखों में आँसू भर आए, बोला "ब्राह्मणी, ईश्वर को साक्षी देकर कहता हूँ कि उस समय मुझे किसी बात का भी ध्यान नहीं था। शास्त्रों में कहा है कि गौ, ब्राह्मण और स्त्री की पुकार को कभी अनसुनी न करना चाहिए। मैं ने गाय की पुकार सुनी। मैं उसे अनसुनी न कर सका। हाँ ब्राह्मणी ! उस समय मैं नशे में था। मुझे करुणा की वारुणी ने बेसुध कर दिया था। इस गाय के आँसुओं को मैं नहीं देख सकता था। मैं ने इसे अपनी शरण दी।"

"अपना ही ठिकाना नहीं—चले औरों को शरण देने—धन्य हो शरणदाता।"

ब्राह्मणी ब्राह्मण की बात न समझ सकी। उसने यही समझा कि उसके पति ने मूर्खता की। वह रात को बड़ी देर तक ब्राह्मण को बुरा-भला कहती रही। सारा परिवार भूखा ही सो रहा। रात को बच्चे भूख के मारे रो-रो पड़ते। गाय दरवाज़े पर बँधी थी। उसके चोरी जाने का भय न था।

× × × ×

रात ही को सारा क़िस्सा मुहल्ले भर में फैल गया था। मुहल्ले वाले सभी रामदास के काम को बुरा ही बतलाते थे। उससे किसी ने भी सहानुभूति न दिखलाई। एक-आध मसखरों ने कहा, 'इन्हें पागलख़ाने भेजो।'

सुबह हुई। रामदास भगवान का नाम लेकर उठा। उठकर सीधा गाय के पास पहुँचा; उसने अपनी गर्दन उसकी ओर बढ़ा दी। उसने उसका मतलब समझ लिया और गला सहलाने को अपना हाथ आगे बढ़ाया। उसके हाथ में गाय के गले में बँधी हुई कुछ भारी सी चीज़ लगी। हैं! यह क्या? उसने ग़ौर करके देखा; अभी उजाला भली प्रकार नहीं हुआ था। एक पोटली गाय की गर्दन से लटक रही थी। उसने बड़ी उत्सुकता से पोटली खोली। पोटली में बीस रुपए रक्खे थे, एक छोटा सा पुर्जा भी था। उसने पुर्जे को खोला। उसपर बड़े अक्षरों में लिखा था—

"ब्राह्मण तुम धन्य हो। १०) अपना ले लो। गाय तुम्हें दान। १०) प्रति मास गाय के चारे के लिए जब तक यह जीवित रहेगी तुम्हें उसके गले में बँधा हुआ मिलेगा। मेरे जीवन में तुमने बड़ा भारी परिवर्तन कर दिया—धन्यवाद—चरणों में प्रणाम।"

पाठक जान गए होंगे कि रुपए का भेजनेवाला कौन था।

ब्राह्मण ने भी यही अनुमान किया कि अवश्य ही अहीर यह रुपया बाँध गया है। उसने अहीर को बहुत खोजा पर उसका फिर वह पता न पा सका। तब से हर मास के प्रथम सप्ताह में १०) गाय के गले में बँधे हुए मिलते हैं। लोग बड़ी ताक में रहते हैं कि देखें रुपए कौन और कब बाँध जाता है पर कोई अब तक नहीं देख पाया। मुहल्ले के बूढ़े-बूढ़ियों का कहना है कि "वही माखन-मिश्री का खवैया, गउओं का चरैया, कृष्ण कन्हैया, यह रुपए बाँध जाता है। उसी ने ग्वाले का वेश धारण करके रामदास की 'धर्म-परीक्षा' ली थी।"

खिलौनेवाला

मैं अपने कमरे में बैठा अखबार पढ़ रहा था, मेरे कानों में आवाज़ आई—

'फटा पुराना गूदड़-ऊदड़ हाय बेचो......'

स्वर में संगीत था। मैंने अखबार अपने पैरों पर रख दिया। फिर बोले तो उसका स्वर और ध्यान से सुनूँ, इसलिए मैंने अपना कान लगाया।

'फटा-पुराना गूदड़-ऊदड़ हाय बेचो......'

यह तो उसी का स्वर था, उसी की लय थी। मैं अखबार टेबिल पर रखकर बाहर की ओर दौड़ा। वह मेरे मकान के सामने आ गया था। अरे, यह तो वही था, इतना परिवर्तन! मैंने अपनी उँगली उठा कर उसे अपनी ओर संबोधित किया। उसने मेरी ओर देखा, बोला।

'क्या है बाबू जी?'

'यह क्या!'

'अब यही करता हूँ बाबू जी।'

'और खिलौने बनाना?'

'वह तो मैंने छोड़ दिया।'

'अरे तू तो बड़े अच्छे खिलौने बनाता था।'

'सब छोड़ दिया बाबू जी।'

'आखिर क्यों?'

'क्यों क्या बताऊँ बाबू जी; इसकी तो एक पूरी कहानी है बाबू जी।'

'कहानी है ?'

'हाँ बाबू जी।'

मैंने सोचा, बड़े-बड़े कलाकारों की कहानियाँ पढ़ी हैं, आज इसकी भी तो कहानी सुनूँ। मैं बोल उठा,

'तो ज़रा मैं भी तो सुनूँ तुम्हारी कहानी।'

'क्या करोगे सुन के बाबू जी, घर में कुछ फटा-पुराना—'

खिलौनेवाला बात का रुख़ बदलना चाहता था, पर मैंने बीच ही में बात काटकर कहा,

'नहीं, नहीं, ज़रा हमें भी तो सुनाओ अपनी कहानी।'

'फिर कभी सुन लेना बाबू जी।'

'फिर कभी कब ?'

'अब तो रोज़ ही इस तरफ़ आऊँगा, सुन लेना किसी दिन बाबू जी।'

इतना कहकर वह चल दिया।

यह एक खिलौना बेचनेवाला था। हरे, पीले, लाल काग़ज़ों के खिलौने बना-बनाकर बेचा करता था। जहाँ यह मुहल्ले के अंदर घुसता बीसों लड़के इसके पीछे-पीछे हो जाते। यह एक डुगडुगी बजा-बजाकर गाते हुए अपने खिलौनों को इधर-उधर बेचता फिरता था। एक लंबा सा बाँस रखता था और उसी में अपनी काग़ज़ की चिड़ियाँ, बंदर, घुनघुने, फूल आदि खोंस रखता था।

गर्मी के दिन आए। मैं सपरिवार पहाड़ चला गया। वहाँ से दो तीन दिन हुए लौटा तो फिर वह दिखलाई पड़ा। उसके स्वर में खिलौनों को बेचते समय जो ध्वनि रहा करती थी वह अब भी मौजूद थी। इसी से उसे मैंने पहचान लिया था। जहाँ उसके कंधे पर एक रंग-बिरंगा खिलौनों का बाँस रहा करता था वहाँ आज एक मैले-फटे कपड़े की गठरी थी। जहाँ उसके हाथ में बच्चों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए डुगडुगी रहती थी, वहाँ आज लोहे की तराज़ू थी। खिलौने बेचते समय उसका चेहरा प्रसन्न रहा करता था, आज उसके चेहरे पर उदासी थी। मैं सोचने लगा, इसने क्यों अपना पुराना पेशा छोड़ दिया जिसमें यह अधिक होशियार था, जिसमें इसको अधिक आय थी और जिसमें इसे अधिक सुख था। कहाँ वह सरस उद्यम और कहाँ यह रूखा पेशा। मैंने बहुत सोचा कि आखिर एक को छोड़कर दूसरे को अख्तियार करने का क्या कारण हो सकता है, पर कुछ निश्चय न कर सका। जब कुछ समझ में न आता तो उसका एक वाक्य दुहराता, 'इसकी तो एक पूरी कहानी है।' मैं भूल न सका कि एक दिन आकर उसने अपनी कहानी सुनाने का वादा किया है। मैं दिन-प्रतिदिन उसकी प्रतीक्षा में रहने लगा।

एक दिन सहसा कानों में आवाज़ आई।

'फटा पुराना गूदड़-ऊदड़ होय बेचो......'

मैं उत्सुकता से बाहर निकल आया। मुझे देखते ही उसने सलाम किया। शायद मैंने उसके सलाम का जवाब भी न दिया। कह पड़ा—

'आज तुम्हें अपनी कहानी सुनानी पड़ेगी।'

'सुन लेना कभी बाबू जी।'

'नहीं तुम्हें आज अवश्य सुनाना होगा।'

उसने एक गहरी साँस ली और बोला, "अच्छा नहीं मानते बाबू जी तो सुन ही लो।"

मैं उसे अपने कमरे में लिवा ले गया। मैंने उसे स्टूल पर बैठने के लिए इशारा किया, पर वह 'नहीं, नहीं' करके फ़र्श पर बिछी चटाई पर बैठ गया और कहने लगा :—

बाबू जी गर्मी के दिन थे। धूप कड़ी पड़ रही थी, लू गर्म चल रही थी। मैं अपने खिलौने—डुगडुगी लिए मुहल्ले-मुहल्ले घूमकर बेंच रहा था। उस दिन मैं एक ऐसी बस्ती में चला गया जो बहुत गरीब लोगों की थी। वहाँ भला कहाँ मेरे खिलौनों की बिक्री हो सकती थी। बीसों लड़के मेरे पीछे-पीछे चल रहे थे। कोई कहता, 'बड़ी नीक चिरई है हो।' कोई कहता, 'चिरई से नीक त बाँदर अहै', कोई कहता, 'मोर ममा आई त ओसे कहब कि हमका चार खिलौना लइ देय', कोई कहता, 'हमार भाई त हमका खिलौना के बरे एको पैसा नाहीं देत'। इसी तरह की बातें करते बच्चे मेरे पीछे-पीछे चल रहे थे। जब मैं उनके घरों से दूर होने लगता तब वे लौट जाते और नए बच्चे उनकी जगह पर आ जाते।

बाबूजी, मेरी डुगडुगी की आवाज़ सुनकर एक छोटे झोपड़े से एक बच्चा निकला। रंग उसका काला था। वह एक फटी सी लँगोटी लगाए था। उसकी मा ने, जिसके बदन पर एक भी गहना न था और जो एक मैली सी धोती पहने हुए थी, उसे बहुत रोका, पर वह न माना और उत्सुकता से दौड़ते हुए आकर बच्चों में शामिल हो गया। थोड़ी देर बाद मुझे ऐसा लगा कि कोई पीछे से मेरा कुर्ता खींच रहा है। मैं मुड़ा। क्या देखता हूँ कि वही काला लड़का है जो मेरे ठीक पीछे खड़ा हुआ है। जब मैंने उसकी ओर देखा तो उसने कहा,

'ए ..ए खिलौनेवाले एक ठो चिरैया दइ दे...'

मैंने देखा कि उसके हाथ खाली हैं। मैंने उससे यह कहकर कि चिड़िया बिना पैसे के नहीं मिलती अपना मुँह मोड़ लिया। मेरे कान में आवाज़ आई,

'पइसा हमरे पास नाहीं है, ए...ए खिलौनेवाले एक टो चिरैया दइ दे...'

लड़के ने इसी की रटन लगा दी। बीच-बीच में मेरा कुर्ता भी खींच लेता था। मैंने सोचा कि जब इस शैतान का मकान दूर हो जायगा तो यह अपने आप ही मेरा साथ छोड़ देगा, पर ऐसा न हुआ। मैं एक मुहल्ले से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में जा रहा था, पर वह लड़का मेरा साथ न छोड़ता था।

बाबू जी, शाम हो गई। मैं अपने घर की ओर लौटने लगा। उस दिन न जाने किसका मुँह देखकर उठा था कि दिन भर गर्मी, धूप और लू में गली-गली की खाक छानने पर भी एक पैसे की बिक्री न हुई। जब सबेरे के पहर बोहनी न हुई तभी कुसगुन हो गया था। मैं झुँझलाया हुआ चला जा रहा था। लड़का मेरे पीछे रह-रहकर कहता आता था—

'ए...ए खिलौनेवाले, एक टो चिरैया दइ दे...'

एकाएक उसने मेरा कुर्ता खींचा। मैं पीछे फिरा। वही लड़का, वही बात: कुर्ते की ओर निगाह डाली तो देखा कि उसने उसमें एक छेद कर दिया है। मुझे क्रोध आ गया। मैंने उसका कान पकड़कर एक तमाचा दिया और उसकी गर्दन पकड़कर उसे पीछे ढकेल दिया। बस्ती दूर हो रही थी, आगे सुनसान रास्ता था, कहाँ तक उसे अपने साथ आने देता। लड़का लौटा, मैं घर आया।

बाबू जी हम लोगों की तो यह हालत है कि रोज़ कमाते हैं, रोज़ खाते हैं। उस दिन तेरहो दंड एकादशी करनी पड़ी। मेरी घरवाली

उन दिनों मायके चली गई थी। मैं भूखा-दूखा, थका-माँदा खाट पर पड़ रहा।

बाबू जी, मैं जिस मकान में रहता हूँ उसमें दो हिस्से हैं। ऊपर मैं रहता हूँ, नीचे एक तेली। बेचारा बड़ा भलामानुस है। उसने पूछा, 'क्यों भैया, आज खाना-वाना नहीं बनाया।' मैंने कहा, 'नहीं भैया, रास्ते में चना-चबेना कर लिया था।' लेकिन सच बात तो यह थी कि आज एक दाने से भेंट न हुई थी। भूख में नींद भी नहीं आती। ज़रा-सी आँख झँपी तो फिर उसी लड़के की आवाज़ कान में गूँजने लगी।

'ए...ए खिलौनेवाले, एक ठो चिरैया दइ दे।'

मैं सोचने लगा, अरे, वह छोटा लड़का कैसे अपने घर गया होगा। बड़ी दूर चला आया था। दिन भर नंगे बदन, नंगे पाँव मेरे पीछे-पीछे लू और घाम में घूमता रहा। शाम को जब उसे वापस करने को उसकी गर्दन पकड़ी थी तो कितनी गर्म थी। ज़रूर उसे बुखार रहा होगा। सोचते-सोचते मेरी आँख फिर ज़रा-सी लग गई। वही आवाज़ फिर मेरे कानों में गूँजने लगी।

मैं फिर उसी लड़के के बारे में सोचने लगा। रात भर इसी तरह झँपते, उसी लड़के की आवाज़ सुनते और उसीके बारे में सोचते-विचारते सबेरा हो गया।

बाबू जी, उजाला हुआ तो दो घड़ी बैठकर कुछ खिलौने बनाए; फिर भड़भूँजे की दुकान से चार पैसे का उधार चना लेकर कमर में बाँधा और खिलौने बेचने निकल पड़ा। सोचने लगा, किधर चलना चाहिए। एक मन यह कहता था कि आज उस तरफ़ न जाना चाहिए जिस तरफ़ कल गया था। एक पैसे के भी खिलौने न बिके थे। एक मन यह कहता था कि चलकर देखना चाहिए कि वह लड़का

ख़ैरियत से अपने घर पहुँच गया कि नहीं। आख़िर क्यों रात भर मुझे उसका ख़्याल भूत की तरह सताता रहा। फिर मैंने सोचा लड़का चेतंत था, अपने घर चला गया होगा, पर मेरे पाँव बरबस उसी बस्ती की ओर बढ़े चले जा रहे थे जहाँ मुझे वह लड़का मिला था।

जब बस्ती नज़दीक आई तो मैंने वही गाना शुरू किया जो मैं हमेशा गाकर अपने खिलौने बेचता था। आपने भी बहुत बार सुना होगा। पर मेरी आवाज़ खुलकर न निकलती थी। मैंने समझा भूख के कारण ऐसा होगा। धीरे-धीरे मैं उस झोपड़ के नज़दीक आने लगा, जहाँ से वह लड़का निकलकर मुझसे खिलौना माँगने आया था।

एकाएक मैं रुक गया। उस झोपड़े से एक औरत की, चुभती हुई रोने की आवाज़ सुन पड़ी जो मेरे गाने, मेरी डुगडुगी के शब्द और मेरे चारो ओर होते हुए शोर-गुल पर चाबुक की तरह पड़ी। मेरा हाथ पाँव फूल गया। मेरा गला रुँध गया। रोने की आवाज़ और साफ़ सुनाई दी। बच्चे भाग गए। मैं अकेला रह गया।

'क्या उसका लड़का फिर नहीं लौटा!'

बाबू जी मैं खड़ा होकर सोचने लगा। अब मैं किधर जाऊँ। उसके झोपड़े के पास जाऊँगा तो वह मुझपर टूट पड़ेगी कि तेरे साथ ही मेरा बचा गया था। गया तो था ज़रूर, पर मेरे पीछे सैकड़ों बच्चे आते हैं। मैं क्या जानूँ कि कौन मेरे साथ है और कौन मुझे छोड़कर चला गया। नहीं, नहीं, इससे बचाव न होगा। जब थाने पर ले जायगी तो पुलिस मुझे हवालात में बंद कर देगी। पुलिस के चक्कर में एक बार फँसकर निकलना मुश्किल होता है। मुझपर बच्चों को बहका ले जाने का मुक़दमा चलेगा। सज़ा मिलेगी, फाँसी तक हो सकती है। समझा जायगा कि मैं हमेशा से इसी तरह बच्चों को चुराता था, अब पकड़ा गया, मैं क्या बताऊँगा कि मैंने बच्चे को क्या किया। नहीं,

नहीं, वहाँ के लोग कहेंगे नहीं कि उन्होंने मुझे लड़के को एक तमाचा मारकर लौटाते देखा था। उसके बाद वह न जाने कहाँ गया, मैं बेकसूर हूँ। पर, यह तो पता चलना चाहिए कि आख़िर उसका लड़का हुआ क्या। कहीं इक्के-बग्घी से दब जाता तो शहर भर में शोर मच जाता। रास्ता भूल जाता तो बारह बज गए मिलता ही न, और तब उसकी माँ उसे ढूँढ़ती फिरती या घर पर बैठकर रोती। कहीं दरिया में तो जाकर नहीं डूब गया, इसलिए कि मैंने उसे खिलौना नहीं दिया। लेकिन ऐसा काम बड़ों को सूझता है। लड़के को कोई चुराएगा तो किस लालच से। लोहे का छल्ला भी तो उसके बदन पर नहीं था। काला, मैला, बदसूरत लड़का कौन चुराएगा और किस हिम्मत से। अंग्रेज़ी राज में आदमी पानी का डूबा नहीं बच सकता। फिर हुआ तो लड़का क्या हुआ, एक चिड़िया दे ही देता तो क्यों इस परेशानी की नौबत आती। लेकिन अगर मैं एक को दे देता तो सब न मेरी जान लेकते। मैं किस-किस को देता और किस-किस को न देता। मेरे भी पेट है। मेरा कोई अपराध नहीं। कल ऐसा नसूड़िया दिन था कि एक पैसे से भेंट न हुई और आज जो वहाँ गया तो मुफ़्त में एक बखेड़े में फँस जाऊँगा। आ ही जायगा उसका लड़का। मैं अपना काम देखूँ। यहाँ न बिक्री की उम्मीद न कुछ।

बाबूजी, मैं कितनी देर इन बातों को खड़ा-खड़ा सोचता रहा, मुझे पता नहीं। खयाल में तो चौदह बरस की जेल भी काट आया। जब मुड़ा और दूसरी ओर चलने को हुआ तो पाँव न उठते थे। उस स्त्री की एक-एक चीख कटिया की तरह आती थी और मेरे दिल में अटक जाती थी। मुझे ऐसा लगता था कि जैसे मैं थोड़ी देर में अपने आप ही खिंचकर उस झोंपड़े पर पहुँच जाऊँगा। देख रहा था दूसरी ओर और पाँव झोपड़ी की तरफ़ चले जा रहे थे। मैं डरने लगा।

बाबू जी, पास ही एक मील का पत्थर लगा था। मैं उसी को टेक लगाकर बैठ गया। शरीर कुछ क़ाबू में हुआ तो मन में कुछ बल आया। इतने में क्या देखता हूँ कि दो औरतें आपस में बात करती हुई धीमे-धीमे आ रही हैं। अपने मन को दूसरी ओर फेरने के लिए मैं उनकी बातें सुनने लगा।

एक बोली, 'दइउ क चलिया त किछु समुझिन न परत। भियान अबहीं लरिकवा नीक-सूँक रहा। रतियै जर आय, सबेरवै मरिगा।

दूसरी बोली, 'राम क मनै त आ, बहिन जर कस आय? पहिली बोली, 'जर अस आय कि दुपहरिया के निकसा राति होय गय तब आय। महतरिया दिना भे फटफटाति रही। खिसियान त रहवै किहौ जब आय त चेचुरुआ धइ के धोंगारेस। रतियै जर चढ़ा, बाय स होय गा, सबेरवा होत-होत निमुकि ग।'

दूसरी बोली, 'का बहुत मारेस?'

पहली बोली, 'ऐ नाही, अपजस बदा रहा। देख्या नाहीं। मूड़-कपार पीटति बा, कि हमहीं खाय लीन। बेचारी राँड़-रेवा रहो, यही लरिकवा के देखे जियति रही।'

बाबू जी उनकी बात सुनकर मैं सन्न रह गया। सचमुच उसकी माँ ने उसे नहीं खा लिया था, मैंने उसे खा लिया था। उसकी मृत्यु के लिए सोलह आने मैं अपने को अपराधी समझने लगा। मैं उसे एक चिड़िया दे देता तो क्यों उसे धूप और लू में मेरे पीछे घूमकर अपना बदन जलाना पड़ता। क्यों वह दिन भर घर से ग़ायब रहता, क्यों उसकी माँ को उसपर क्रोध आता, क्यों वह उसे बुखार में मारती-पीटती। एक तमाचा उसे मैंने भी तो मारा था। बुखार तो उसे शायद तभी था। हाँ तभी तो जब उसकी गर्दन पर मैंने हाथ लगाया था मेरा हाथ जलने लगा था। बुखार में मार! क्यों बचे बेचारा। मैं अपने को धिक्कारने लगा,

'हत्यारे तूने एक भोले बच्चे की जान ली, और एक दीन-दुखी माता की गोद खाली की।'

खिलौनेवाले की आँख में आँसू आ गए। उसने अपने को सँभाला और कहना जारी रक्खा।

बाबू जी, मेरे जी में आया कि चलकर लड़के की माँ के पैरों पर सिर रखकर कह दूँ कि तूने अपने लड़के को नहीं खा लिया, मैंने खा लिया है। मैं उठा और झोपड़े की ओर बढ़ा। मुझे देखते ही वह औरत और फूट-फूटकर रोने लगी।

रतियै भरे—

माँगत रहे—

एकै चिरैया—

लेबै रे मैया—

कस नाहीं उठते—

मोरे खिलौना—

ले अब चिरैया—

ले अब खिलौना—

बाबू जी, जब उसने रोते-रोते सब क़िस्सा बताया कि कैसे वह दिन का मेरे साथ गया रात को लौटा, कैसे उसने उसको पीटा, कैसे उसे बुख़ार चढ़ा और कैसे वह रात भर चौंक-चौंक कर यही कहता रहा कि

'ए......ए खिलौनेवाले एक चिरैया दइ दे।'

तब तो मेरे दिल में जो जलन होने लगी उसे बता सकना कठिन है। मैं जा ही रहा था उससे पहले दिन का सारा हाल बतलाने और अपना अपराध क़बूल करने कि मेरा इरादा बदल गया। मुझको ऐसा

लगा कि मेरी बात से उसको और दुख पहुँचेगा। यह कहेगी कि हाय, मेरा लाल एक कागद की चिड़िया के लिए तरस-तरस कर मर गया। मैं चार पैसे की चिड़िया फेंक देता तो उसके बच्चे की लाख रुपये की जान क्यों जाती।

बाबू जी, मैंने बात बनाई। मैंने कहा, 'मुझे तो मालूम नहीं तेरा लड़का कब आया और कब गया। मैं कहाँ तक याद रक्खूँ। शहर भर के लड़के मेरे पास आते हैं। मुझसे माँगता तो एक नहीं मैं दो दे देता। कागद ही तो था। बदे की बात। ज़रा देखूँ तो कौन लड़का था?'

मेरे ऐसा कहने पर उसने उस कपड़े को लड़के की लाश पर से उठा दिया जिससे उसने उसे ढक रक्खा था। उसे देखकर वह फिर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। बाबू जी, वही लड़का था। उसकी आँखें खुली हुई डरावनी लग रही थीं—मुझे ऐसा लगा जैसे वे मेरी ओर इशारा करके कह रही हैं कि क़सूरवार यही है। मैंने उसके मुँह की ओर देखा। बस ऐसा लग रहा था कि 'चिरैया' कहने को मुँह खोले हुए है।

बाबू जी, दिन बीत गया। न खाने-पीने की सुध, न घर जाने की। दिन भर उसके यहाँ मातमपुर्सी को लोग आते रहे। शाम को बिरादरी के लोगों के इकट्ठा होने पर लाश उठी। पाँच क़दम मैं भी साथ गया और उसकी माँ को समझा-बुझाकर घर की ओर चला।

मेरी आँखों के आगे वही लड़का नाच रहा था। और कोई बात सूझती ही न थी। धीरे-धीरे मैं बस्ती के पार निकल गया। रास्ता सुन-सान था, चारों तरफ़ अँधेरा था। घर अभी दूर था। मुझे ऐसा लगा पीछे से कोई मेरा कुर्ता खींच रहा है। ठीक उसी तरह का खिंचाव था जिस तरह उस लड़के ने पिछले दिन कई बार किया था। मैंने सोचा, वह लड़का कहाँ, किसी झाड़ी में मेरा कुर्ता अटक गया होगा। गर्दन

मोड़ी तो देखता हूँ कि कोई झाड़ी या ऐसी चीज़ नहीं जिसमें कुर्ता अटक सके। अँधेरे में आँखें गड़ाईं तो उसी लड़के की दो चमकती हुई आँखें दिखाई दीं और वही चिड़िया की माँग सुनाई दी।

मुझे भूत इत्यादि पर विश्वास नहीं है। उसके ऐसा कहने पर मैंने कहा, 'वह लड़का न रहा होगा। तुम्हारा वहम था।'

वह बोला, 'बाबू जी, मैंने भी वहम कहकर अपना भय हटाना चाहा। पर यह वहम न था, और भी तो सुनिएगा।'

हाँ तो बाबू जी, मेरे क्षण भर ग़ौर से देखने पर वह लड़का ग़ायब हो गया। मैंने सोचा वहम था, पर फिर भी कलेजा धक-धक कर रहा था। इस समय गर्मी तो न थी, पर मेरा बदन पसीने से तर हो गया। जी चाहता था कि किसी तरह घर पहुँच जाऊँ पर पाँव न उठते थे। थोड़ी देर बाद मालूम हुआ कि कोई मेरा कुर्ता खींच रहा है। अब तो मैंने अपनी आँखें मूँद लीं और ज़ोरों से पाँव बढ़ाने लगा। पर कुर्ते का खिंचाव बंद न हुआ। पीछे मुड़ने को मजबूर हो गया। देखता हूँ वही लड़का खड़ा है, वही उसकी रटन है।

मैंने खूब ग़ौर से देखा, पर इस बार वह ग़ायब न हुआ। अब मैं कैसे इसको वहम समझता। मन पर दृढ़ हो गया कि शायद लड़का भूत हो गया है और मुझे सता रहा है। अँधेरे और भय के कारण पता न चलता था कि मेरे बाँस में कहाँ चिड़िया हैं, कहाँ बंदर हैं, कहाँ फूल हैं। एक खिलौना कहीं से निकाल कर मैंने उसके हाथ में रख दिया और वह लड़का ग़ायब हो गया।

इसी तरह रास्ते में बीसों बार उसने मेरा कुर्ता खींचा और हर बार मैंने एक खिलौना फेंककर उससे अपना पिंड छुड़ाया। जब बाँस के सारे खिलौने खतम हो गए तभी जाकर उसने मेरी जान छोड़ी।

किसी तरह घर पहुँचा। ऊपर पहुँचकर नीचे चारपाई पर गिर पड़ा। डर के मारे सारा बदन काँप रहा था। सोचा उजाला कर लूँ। मेरी जेब में दियासलाई थी। जलाई तो हाथ काँप रहे थे। उस कँपते प्रकाश में घर की चीज़ों की परछाइयाँ ऐसे हिल रही थीं जैसे भूचाल आ गया हो। ढिबरी जला तो दी पर वह फिर बुझ गई। तेल न था, और न इतनी हिम्मत थी कि नीचे जाकर महँगू की दूकान से तेल ला सकूँ। अँधेरे में ही लेट रहा। सो गया, या यह कहूँ कि बेहोश हो गया।

एकाएक फिर कानों में आवाज़ आई।

'ए...ए खिलौनेवाले एक चिरैया दइ दे।'

आँखें खुलीं तो क्या देखता हूँ कि खिड़की के उस पार दो आँखें बिल्ली की तरह चमक रही हैं। मुझे इस बात को जानने में देर न लगी कि यह तो उसी लड़के की आँखें हैं।

बाबूजी, मैंने बहुत से खिलौने तैयार करके घर की दीवार में खोंस रक्खे थे। फौरन उठा और दीवार टटोल कर मैंने एक खिलौना खिड़की के बाहर फेंक दिया। आँखें थोड़ी देर के लिए गायब हो गईं। इसी तरह रात भर मुझे रह-रहकर खिड़की के पार वे चमकीली आँखें दिखाई देतीं और खिलौना माँगतीं। मैं यंत्र की तरह उठता और खिलौना निकालकर खिड़की के बाहर फेंक देता। यह तब तक नहीं रुका जब तक मेरी दीवाल पर एक भी खिलौना बाकी बचा।

मैं मुर्दे-सा सो गया। जब होश आया तो मैंने अपनी घरवाली को अपने पास देखा। पूछा, 'तू कब आई?' उसने कहा, 'सात दिन हो गए, साथ वाले किरायेदार तुम्हारी यह हालत देखकर मुझे बुला लाए।'

बाबूजी, आठ-दस दिन बाद में अच्छा हो गया। मेरी स्त्री ने कहा 'क़र्ज़ बहुत हो गया है; कुछ खिलौने वग़ैरह बनाकर फिर रोज़गार शुरू करो।'

दूसरे दिन बाज़ार जाकर सामान लाया। लौटते-लौटते शाम हो गई। बीमारी से उठा था, थक गया, सो गया। रात को एक आवाज़ सुनाई पड़ी।

'ए:...ए खिलौनेवाले कब तक नवा खिलौना बन जाई। कब तक ?......'

मैं कुछ न बोला। अभी काफ़ी रात थी। फिर भी मैं उठकर बैठ गया। राम-राम करके रात बीती। मुँह अँधेरे ही मैं बाँस की कमा-चियाँ-काग़ज़ वग़ैरह लेकर बाज़ार गया और सबको वापस कर आया। तब से मैंने खिलौनों को बनाने की बात भी नहीं सोची। अब यहीं गूदड़ों का काम करता हूँ और पेट पालता हूँ।

कहानी ख़तम करके उसने मुझे सलाम किया और गूदड़ों के लिए आवाज़ लगाता हुआ चला गया।

दुखनी

साढ़े नौ बजे थे। चरना ताँगा जोतकर फाटक पर खड़ा था। मैं खाना खाकर कपड़े पहन रहा था। साढ़े नौ मेरे घर से चल देने का समय है, पर कल शाम को एकाएक बर्फ़ पड़ी थी, और सरदी बेहद बढ़ गई थी। मेरे जाड़े के पहनने के कपड़े—ऊनी सूट, स्वेटर, चेस्टर वग़ैरह अभी तक बक्सों में ही रक्खे थे। निकालते-निकालते देर हो गई। कपड़े पहनते हुए मैंने खिड़की के शीशों से देखा कि कोई ताँगा तेज़ी से मेरे बँगले की ओर आ रहा है। शीशों के बाहर की ओर पानी की छोटी-छोटी बूँदें लगी थीं। साफ़-साफ़ देखने के लिए मैंने खिड़की खोली। ठंडी और काटती हुई हवा के झोंके से मेरा सारा शरीर काँप उठा। मैंने देखा कि कृष्णा बाबू का कोचवान खाली ताँगा लिए चला आ रहा है। ताँगा और क़रीब आ गया था। कोचवान ने मुझे देखा और सलाम किया। ताँगा मेरे घर के सामने आकर खड़ा हो गया।

कोचवान ने मेरे बाहर निकलने का इंतज़ार न किया। कमरे के बाहर आकर खड़ा हो गया। मैंने दरवाज़े पर पड़े हुए परदे के नीचे उसके पैर देखे और सिर बाहर निकाला। उसने मेरे हाथ में एक पत्र रख दिया।

पत्र देखकर मुझे कुछ हैरानी सी हुई। यह पत्र कृष्णा बाबू की पत्नी ने लिखा था। मैंने लिफ़ाफ़े पर देखा कि कहीं मिसेज़ बर्मा के लिए तो यह पत्र नहीं लिखा गया, साफ़-साफ़ 'मिस्टर' लिखा था। मैंने पत्र पढ़ा। उसमें लिखा था कि कृष्णा बाबू की तबियत कल रात

से बहुत ज़्यादा खराब है—कृपा करके शीघ्र ही चले आइए। विशेष बातें आने पर। मैंने छुट्टी के लिए एक अर्ज़ी लिखी और चरना को उसे दफ़्तर ले जाने को कहा। जल्दी से ओवरकोट कपड़ों पर डालकर दूसरे ताँगे पर जा बैठा—जल्दी में दस्ताना पहनना भूल गया।

कृष्णा बाबू का पूरा नाम कृष्णचंद्र निगम है। इन्होंने एम० ए० तक शिक्षा पाई है। घर के संपन्न आदमी हैं। दर्शन शास्त्र में इनकी विशेष रुचि है। यह भारतीय दर्शन को मानव ज्ञान की पराकाष्ठा मानते हैं। अपने मत का समर्थन करने के लिए कई पुस्तकें भी लिख चुके हैं जिनके अनुवाद विदेशी भाषाओं में भी हुए हैं। इनकी धारणा है कि जहाँ विदेशी दर्शन शास्त्र किसी एक मनुष्य की बुद्धि की उपज है, वहाँ भारतीय दर्शन शास्त्र समस्त भारतीय जीवन से निकली हुई वस्तु है। भारतीय, दर्शन समझता नहीं, वह दार्शनिक जीवन व्यतीत करता है। साथ ही कृष्णा बाबू साहित्यानुरागी भी हैं। भारतीय सभ्यता और जीवन को प्रदर्शित करने वाली बहुत सी कहानियाँ भी इन्होंने लिखी हैं जो देशी तथा विदेशी अखबारों में सम्मानपूर्वक छप चुकी हैं। चित्त बड़ा सरल, कोमल और उदार है। दया की तो यह मूर्ति ही हैं। धीमी सी मुसकान सदा होठों पर रहती है। फ़िलासफ़रों की झक तो मशहूर है। आप भी उससे वंचित नहीं हैं।

थोड़ी देर में मैं कृष्णा बाबू के बँगले पर पहुँच गया। सारा बँगला सायँ-सायँ कर रहा था। दो-एक नौकर अपना कान-मुँह कपड़े से लपेटे डरे हुए से बाहर बैठे थे। कृष्णा बाबू का कुत्ता जो किसी के भी आने पर पहले उसका स्वागत अपनी भों-भों से करता था आज बिल्कुल चुप एक कोने में आँख मूँदे, दुम दबाए बैठा था। पैरों की आहट से उसने अपना सिर नीचे ही रक्खे हुए अपनी आँखें खोलीं और फिर बंद कर लीं। मैं इस कुत्ते को बहुत नापसंद करता था और

कई बार कृष्णा बाबू से कह चुका था कि वे इसे निकाल दें पर आज उसकी समझदारी और अपने मालिक के प्रति संवेदना देखकर मुझे बड़ी दया आई। पशुओं के मस्तिष्क हो या न हो पर उनके हृदय अवश्य ही होता है, यह उस दिन मैंने समझा।

मेरे आने की खबर मिलते ही मिसेज़ निगम बाहर आईं। उनके चेहरे पर इतनी अधिक उदासी और घबराहट थी कि मैंने अपना यह कर्तव्य समझा कि कुछ उत्साहपूर्ण और आशापूर्ण शब्दों से उन्हें धैर्य दूँ—नहीं, नहीं, इसके पहले थोड़ा-सा मज़ाक करके उनके मानसिक बोझ को हल्का करूँ। मैंने जान बूझकर अपनी आवाज़ ऊँची की, मानो मेरे इस तरह बोलने से घर की मुर्दानगी में कुछ सजीवता आ जायगी, मैंने कहा, "भाभी जी, भाई साहब को एक ही दिन में कितना बीमार कर दिया! कल सबेरे तो भले चंगे थे! क्या सरदी असर कर गई? मालूम होता है उन्हें रात अ......?"

अंतिम वाक्य कहते हुए मैंने अपना सिर ज़रा इधर-उधर हिलाया और आधा ही वाक्य कहकर अपनी दाहिनी आँख का एक कोना दबाकर मैं मुसकराया। मिसेज़ निगम मेरे मज़ाक करने के तरीक़ों से भली भाँति परिचित थीं। उन्होंने मेरा मतलब तो अवश्य समझा होगा पर जहाँ मेरी छोटी-छोटी सी बात उन्हें खिलखिला देती थी वहाँ आज मेरे ज़रा गंभीर मज़ाक का भी उनपर कुछ असर नहीं हुआ। कृष्णा बाबू की बीमारी की गंभीरता का कुछ आभास मुझे अब मिला। मुझे अपने ऊपर शर्म आई। मेरे शब्दों के समाप्त होते ही घर में फिर निस्तब्धता छा गई—पहले से घनी, जैसे क्षणिक बिजली की चमक के पश्चात अंधकार और घना हो जाता है।

ड्राइंग-रूम के बगल से दो छोटे-छोटे बरामदों में होकर हम लोग कृष्णा बाबू के सोने के कमरे के आगे गए। बाहरी कमरे को पार

करके हम भीतर, जहाँ वे अपनी रोग-शैया पर लेटे थे, घुसने ही वाले थे कि कमरे से एक चीख निकली—"दुखनी... !" यह कृष्णा बाबू का स्वर था। मैंने आश्चर्य से मिसेज़ निगम से पूछा—"यह क्या ?"

"यही तो उनकी बीमारी का कारण है, बताऊँगी"—कहती हुई वे अंदर झपटीं। मैं उनके पीछे-पीछे चला।

कृष्णा बाबू अपने बिस्तर पर उठ बैठे थे। उनका चेहरा एकदम पीला पड़ गया था। आँखें लाल हो रही थीं। वे हम लोगों की ओर घूर रहे थे, मानो हमें पहचान न रहे हों। मिसेज़ निगम ने ज़रा ज़ोर करके उन्हें बिस्तरे पर लिटाया और कंबल उढ़ाए। मैंने पुकारा—"कृष्णा बाबू ! कैसी तबियत है ?" वे कुछ न बोले। उनकी आँखें बंद हो गईं। मैंने उनके माथे पर हाथ रक्खा। वह आग की तरह जल रहा था। मिसेज़ निगम ने सिरहाने टेबिल पर रक्खी हुई दवाइयों की शीशी में से एक दवा उठाकर उन्हें पिलाई। दवा कुछ अंदर गई और कुछ उनके मुँह के किनारों से गिरकर गालों पर बहती हुई बिस्तर पर चू पड़ी। मिसेज़ निगम ने झटपट रुमाल से दवा पोंछी और अपने आँसुओं को भी। उनके चेहरे पर बड़ी व्यग्रता थी। वे मेरी ओर देखने लगीं।

मैंने पूछा—"बताओ तो कैसे इनकी तबियत एकदम से खराब हो गई ?"

रोगी की चारपाई से दूर अँगीठी के पास तीन-चार कुर्सियाँ पड़ी थीं। उन्हीं की ओर उन्होंने संकेत किया। हम दोनों कुर्सियों पर बैठ गए। मिसेज़ निगम ने कहना आरंभ किया—

"कल सबेरे तो आपके यहाँ गए ही थे। वहाँ से लौटकर भोजन किया। कुछ देर आराम करते रहे। इसके बाद प्रेस का आदमी प्रूफ़ लेकर आ गया। आज-कल इनकी एक किताब अंग्रेज़ी में छप रही है

पर इनकी इच्छा है कि यह किताब अंग्रेज़ी के साथ ही साथ हिंदी में भी निकले। कल दिन में और दिनों की अपेक्षा सरदी कुछ कम थी। शायद क्षितिज पर ओले बरसाने वाले बादलों के कारण ही ऐसा था। हमारे ड्राइंग-रूम के सामने वाले बरामदे में सुहाती-सी धूप आ रही थी। कई छोटी टेबिलें और कुर्सियाँ पड़ी थीं। हिंदी वाला प्रूफ़ मैं वहीं बैठकर देखने लगी और यह भी वहीं आकर अंग्रेज़ी वाला प्रूफ़ देखने लगे। आज इन्होंने कुछ काम नहीं किया, फिर भी इनका चित्त प्रूफ़-संशोधन में नहीं लग रहा था और थोड़ी-थोड़ी देर बाद मुझसे भिन्न-भिन्न बातों के विषय में पूँछ-पाछ करने लगते थे। मैं अपने काम में दत्त-चित्त थी, क्योंकि ज़रा सी असावधानी रहने से मेरे प्रूफ़ में बहुत सी ग़लतियाँ रह जाती हैं और इन्हें मेरी हँसी उड़ाने की सामग्री मिल जाती है।

"बस, उसी समय एक बुड्ढी भिखारिन लाठी टेकती हुई आ गई। इन्होंने नौकरों से कह रक्खा था कि जब कोई काम करने योग्य भिखारी आए तब उसे बँगले में न घुसने दें, पर वृद्ध, अंधे, लँगड़े, लूले और रोगी कभी बिना कुछ दिए न लौटाये जाएँ। दीना फाटक पर था, उसने बुड्ढी को रोका और कुछ लेने चला। इतने में बुड्ढी के कुछ करुण शब्द इनके कानों में पड़े और इन्होंने उससे भीतर आने को कहा। वृद्धा कुछ झिझकती, कुछ डरती, कुछ आशा करती भीतर आई। इन्होंने प्रूफ़ छोड़ दिया और उससे सीढ़ियों पर बैठने को कहा। जब वह बैठ गई तब इन्होंने उससे अनेक मनोरंजक प्रश्न करने आरंभ किए।"

"तू कौन जात है?", "कहाँ की रहने वाली है?", "तू भिखारिन कब से हुई?", "तेरा बिवाह हुआ था कि नहीं?" और "तेरे लड़के-वाले थे कि नहीं?" आदि।

"वृद्धा की कहानी बड़ी दर्द भरी थी। मैंने भी अपना काम छोड़ दिया और उसकी बातें सुनने लगी। कुछ देर तो उसे अपनी धुँधली स्मृति या जान-बूझकर भुला दी गई स्मृति को ताज़ा करने में कठिनाई हुई, पर भावना के एक बार जाग्रत होने पर वह अपना इतिहास दुखांत उपन्यास के समान कहने लगी। तीन घंटे तक हम उसकी बातें सुनते रहे। जब उसकी जीवन-गाथा समाप्त हुई और वह जी भर कर रो चुकी तो उसका उदास चेहरा एक बार वैसा ही प्रकाशित हो पड़ा जैसे वर्षा हो जाने पर धुँधला आकाश स्वच्छ सुनील हो कर चमकने लगता है। कल मुझे इस बात का अनुभव हुआ, किसी दुखी आत्मा को सबसे बड़ा सुख वह देता है जो उसकी दुख की कथा सुनता है। उसे कुछ देकर हम उसे इतना शोक रहित नहीं बना सकते थे जितना उसकी दुख-कथा सुनकर। कहानी समाप्त कर के वृद्धा ने कई बार दीर्घ श्वास लिए, जैसे वह मज़दूर लेता है जो बड़ी दूर से एक भारी बोझ लादे हुए थक-कर किसी स्थान पर अपना बोझ उतार कर सुस्ताता है।

नाश्ते का समय आ गया था। हमारे महराज नाश्ते का सामान कर रहे थे—आज-कल शहर में कालरा फैला है, इस कारण हम बाज़ार से कोई चीज़ न मँगवाकर घर ही पर सब चीज़ें बनवा लेते हैं। इनकी और मेरी भी इच्छा हुई कि आज अपनी आँखों के सामने एक ऐसे व्यक्ति को भरपेट भोजन करते देखें जिसने अपने जीवन भर किसी दिन भी तृप्त होकर भोजन नहीं किया था। हमने बूढ़ी से कहा—तू आज हमारे यहाँ खाना खा। उसके रोम रोम खड़े होकर आशीर्वाद देने लगे। महराज से हमने कहला दिया कि वे थोड़ी-सी पूड़ियाँ भी बना लें। बूढ़ी एक-एक कौर खाती और आशीष देती। उसने भरपेट खाया और पेट भर असीसा।

मिसेज़ निगम ने यहीं तक अपनी बात कही थी कि कृष्णा बाबू फिर चौंक उठे—"दुखनी आई? उसको बुलाओ और यह कुर्ता पहनाओ!" हम दोनों झपटकर उनके बिस्तर के पास गए। उनके मुँह से एक दो अस्पष्ट शब्द और निकले और फिर वे चुप हो गए। बुखार वैसा ही तेज़ चढ़ा था। मैंने मिसेज़ निगम से पूछा कि यह 'दुखनी और कुर्ते' की बात कैसी? हम लोग दबे पाँव अँगीठी के पास आए और मिसेज़ निगम ने फिर अपनी बात आरंभ की।

"जब वह बूढ़ी जाने लगी तो उसने कहा—'बाबू जाड़े के दिन आ रहे हैं, बहू रानी की कोई फटी-पुरानी कुर्ती-उर्ती हो तो मुझे मिल जाय, आप दूधन नहाओगे, पूतन फलोगे!' यह मुझसे धीमे-धीमे पूछने लगे—'जो कुर्ती तुम्हारे लिए पारसाल बनी थी वह तो तुम्हें पसंद नहीं आई थी, इसे दे दूँ?' मैंने कहा, 'हाँ-हाँ'। पहले तो इन्होंने कहा कि ढूँढ़ लाओ। फिर मुझे मना कर दिया और बूढ़ी से बोले—'अच्छा, तुम कल आना तो मैं तुम्हें एक नई ऊनी कुर्ती दूँगा।' मैंने कहा—'देना है तो आज ही दे दो।' हमारी आपस की बातें अंग्रेज़ी में हो रही थीं। इन्होंने कहा—'नहीं, आज इसे आशा करने दो, देखो इसके चेहरे पर कैसी आशामय प्रसन्नता है। किसी वस्तु को पा जानेसे उसके पा जाने की आशा अधिक कौतूहल-वर्धक और सुखदायिनी है। तुम जानती हो, आज रात को इसकी क्या दशा होगी? रात भर इसे नींद न आएगी। रात भर यह ऊनी कुर्ती का स्वप्न देखेगी और सबेरा होते ही, देखना, यह तुम्हारे यहाँ आएगी; तब मैं इससे पूछूँगा कि रात को तेरे मन में क्या-क्या विचार आए थे? सच कहता हूँ कि अगर वह कुछ बतलाने में समर्थ हुई तो कुछ कल्पना मिला कर मैं एक बड़ी सुंदर कहानी लिख सकूँगा।" मुझसे ऐसा कहकर वे बूढ़ी के चेहरे पर दूर्बीन की तरह आँखें गड़ाकर उसपर पड़ी हुई आशा की रेखाओं का विश्लेषण करने लगे। बूढ़ी ने बँगले को चारों ओर ठीक से आँखें

घुमाकर देखा जैसे वह इसे पहचानने की कोशिश कर रही हो कि कल आने पर वह सहज ही में पहचान ले। पर कदाचित् उसे अपनी कमज़ोर आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। उसने पूछा—'बाबू, आप का क्या नाम है?'' मुसकराते हुए इन्होंने उससे कहा—'तेरा नाम क्या है? तूने अपना नाम तो बताया ही नहीं।' वह बोली—'बाबू मेरा नाम दुखनी है—दुख में पैदा हुई थी, मा-बाप ने मेरा यही नाम रख दिया।'' इन्होंने ज़ोर से हँसते हुए कहा—'तो मेरा नाम सुखदेव है, जा कल आना।' जब वह चली गई, हम लोग अंदर कमरे में नाश्ता करने गए।

''इसी समय हवा तेज़ी से चलने लगी और आसमान में बादल उठने लगे। बादल तो थे थोड़े ही, पर उनमें कड़क और चमक बहुत थी। बदन काँप-काँप उठता। उधर सर्दी भी बढ़ने लगी। आज-कल रात जल्दी ही आ जाती है, कल और जल्दी आ गई। मुझे ठीक याद है कि पाँच-साढ़े पाँच का समय होगा, मैं अपने कमरे में बिजली जलाने की आवश्यकता अनुभव कर रही थी। खाना खाते-खाते सर्दी इतनी बढ़ गई कि यह मालूम होने लगा कि बिना ऊनी स्वेटर वग़ैरह पहने काम न चल सकेगा। इसी बीच ओले गिरने शुरू हुए। जब मैं कपड़े निकाल रही थी, मुझे वह कुर्ती भी मिली, जो इन्होंने दुखनी को देने का वादा किया था। इनके कपड़े और वह कुर्ती लेकर जब मैं ड्राइंग-रूम में पहुँची तो क्या देखती हूँ कि ये व्यग्र भाव से इधर-उधर टहल रहे हैं और कभी-कभी खिड़की का पर्दा हटाकर ओलों का गिरना देख गहरी साँस खींच लेते हैं। मैं दरवाज़े पर कुछ देर खड़ी यह देखती रही, फिर मैंने इन्हें पुकारा और इनके कपड़े और कुर्ती को एक टेबिल पर रख दिया। जब इसपर भी इन्होंने कपड़ों की ओर कुछ ध्यान न दिया तो मैंने कहा, 'ऊनी वेस्टकोट ही काफ़ी न होगा, स्वेटर पहन लीजिए, और टहल क्यों रहे हैं, अँगीठी के पास

बैठिए। वे कहने लगे—"मैं सोच रहा हूँ कि इस समय वह बूढ़ी, जिसके तन पर केवल एक फटी धोती थी, कहाँ होगी और इस चुभने वाली हवा से कैसे अपना सीना और पीठ बचाती होगी। हम तो कमरे में बैठे हैं, खिड़कियों पर पर्दे पड़े हैं, भीतर अँगीठी भी है, कपड़े भी कुछ पहने हैं। लाओ स्वेटर भी पहन लूँ, चेस्टर भी डाल लूँ पर......" इतना कहकर उन्होंने फिर खिड़की का पर्दा खोला और लंबी साँस ली। मैंने ज़रा हँसते हुए कहा, 'तब जब मैं कह रही थी कि कुर्ती आज ही दे दो तब तो आपको मनोवैज्ञानिक कहानी सूझ रही थी।' इसपर इन्होंने मुझे अनदेखती आँखों से देखा। मैंने अधिक बोलना उचित न समझा। इन्होंने मुझसे कह रक्खा है कि जब मैं किसी विचार में तल्लीन रहूँ तब न तो तुम मेरे पास आया करो और न मुझसे बोला करो, क्योंकि ऐसा करने से विचार शृंखला एकाएक टूट जाती है और सारा विचार धूल में मिल जाता है और कभी-कभी तो ऐसे विचारों का फिर मिलना असंभव हो जाता है। मैंने समझा कोई आचार-शास्त्र संबंधी विचार इनके हृदय में उठ रहा है। मैं अपने कमरे की ओर लौटी और अपने बिस्तरे पर जा लेटी। मुझे इस तरह लौटते देख इन्होंने कुछ न कहा, उसी तरह खड़े रहे।

"कुछ देर तो मैं जागती रही, पर फिर सो गई। एकाएक मेरी आँखें खुलीं। घड़ी पर नज़र पड़ी। बारह बज चुके थे। इनका बिस्तर देखा, ख़ाली था। बरामदे की बिजलियाँ जल रहीं थीं; जब सोने के लिए ये आते हैं तो इन्हें बुझाते हुए चले आते हैं। मैंने अपने मन में कहा—क्या अभी तक ड्राइँग-रूम में ही बैठे हैं। सरदी इतनी पड़ रही थी कि कंबलों से निकलने का जी न चाहता था, पर मैं हिम्मत करके उठी और बाहर आई। ड्राइंग-रूम की लाइट आफ़ थी मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। भीतर घुसकर मैंने रोशनी की, पर वहाँ कोई भी न था। मैंने और कमरे देखे, वे कहीं भी न मिले। घबराहट में ग़ुसलख़ाने के कमरे

तक देख आई। फिर लौटकर ड्राइंग-रूम में आई। टेबिल पर निगाह गई तो देखा कि स्वेटर, चेस्टर और वह कुर्ती उसपर नहीं हैं। कपड़े पहनने की कोठरी, जो ड्राइंग-रूम के पीछे है, उसमें जाकर देखा तो एक जोड़ा जूता भी न था। मैंने समझा कि ये कहीं गए हैं और संभवतः उसी बूढ़ी भिखारिन की खोज में। पर फिर विचार आया कि गए कैसे? दीना बाहर के बरामदे में सो रहा था, उसे जगाया। वह घबरा-कर उठा। मैंने पूछा—'बाबू कहाँ गए हैं?' उसे कुछ पता न था। उसने कहा कि दस बजे तक वह जागता था; सोचता था बाबू अंदर जाँय तो वह उठकर दरवाज़े बंद करे पर वे न उठे और न जाने कब उसकी आँख लग गई। मैंने दीना से कोचवान को बुलवाया। उसे भी कोई खबर न थी। जब उसने अस्तबल में जाकर देखा तो वहाँ पर साइकिल न थी। साइकिल पर अब ये कभी नहीं चढ़ते, सिर्फ़ चपरासी के मामूली कामों के लिए रख छोड़ी है और वहीं अस्तबल के एक कोने में पड़ी रहती है। अब मालूम हुआ कि साइकिल लेकर उसी बुढ़िया को कुर्ती देने के लिए गए हैं। मैं बैठकर सोचने लगी कि बुढ़िया न जाने कहाँ रहती है? कहाँ जायँगे? कहाँ ढूढ़ेंगे? अजीब आदमी हैं।

"कोचवान को मैंने ताँगा लेकर इन्हें ढूँढने के लिए भेजा। उसने पूछा—'सरकार किधर जाऊँगा?' किधर बतलाती? कुछ सोचकर मैंने उसको धर्मशालाओं और गंगा किनारे की ओर जाने को कहा क्योंकि मैं समझती थी कि भिखमंगे यहीं कहीं रहते होंगे और उधर ही शायद ये गए हों। मुझे इनपर बड़ा क्रोध आ रहा था। बार-बार उस बुढ़िया को कोसती थी कि डाइन न जाने कहाँ से आ गई। माली और महराज भी जाग पड़े थे। मैं अपना क्रोध इन्हीं पर उतार रही थी—'तुम लोग कैसे सोते हो कि कोई खबर नहीं रखते? बड़े बेपरवाह हो, बड़े आराम-तलब हो, मुझे ऐसे नौकरों की ज़रूरत नहीं, जो सरेशाम सोने लगें।'

बेचारे चुपचाप बैठे थे। दीना बार बार अपना सिर ठोंकता था कि न जाने कैसे उसको नींद आ गई।

"बैठे-बैठे दो ढाई घंटे बीत गए। सच पूछो तो दो ढाई बरस बीते। एक-एक मिनट एक-एक दिन हो रहा था। मैं कभी कमरे में आती, कभी बरामदे में टहलती, कभी फाटक तक चली जाती। सर्दी-वर्दी सब इस समय हवा हो गई थी। बस यही चिंता थी कि ये आवें।"

"मैं फाटक से आगे बढ़कर सड़क पर चली आई थी एक साइकिल की रोशनी पास आती दिखाई दी। मैं समझ गई कि ये ही होंगे, पर मैं क्षणभर के लिए निराश हो गई। एक आदमी नंगे बदन केवल धोती जाँघों तक उठाए साइकिल पर बैठा था। पर वह मेरे ही फाटक पर उतरा। मैंने पूछा—"कौन?" उत्तर मिला 'शीला'—ये ही थे। मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। जल्दी से साइकिल खड़ी करके ये भीतर घुसे, मैं इनके पीछे-पीछे आई। इन्होंने दरवाज़ा चटपट बंद कर लिया। इनकी सूरत देखकर उस समय डर लगता था। जाड़ा इतना पड़ रहा था और इनके बदन पर एक कपड़ा तक न था। एक-एक रोम खड़ा था। मालूम होता था सारे बदन में दाने निकल आए हैं। धोती ऊपर तक कसी थी और उसपर कीचड़ की छीटें पड़ी थीं। पैर का निचला भाग तो बिल्कुल कीचड़ से भरा था। जूता दीख ही न पड़ता था। मेरी समझ में न आता था कि इनसे क्या पूछूँ! इन्हें क्या हो गया! कहीं पागल तो नहीं हो गए! कपड़े सब कहाँ फेंक आए! आते ही ये स्नानागार की ओर गए। मैंने कहा—नहाना मत, सूखे तौलिए से बदन पोंछ डालना। दूसरे कपड़े मैंने ले जाकर दिए। कपड़े बदलकर जब ये बाहर निकले तो फिर इंसान से मालूम हुए। मैंने हिम्मत करके पूछा—'कहाँ गए थे?' इसका इन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया और लंबे-लंबे पैर बढ़ाते सोने के कमरे में गए और बिस्तर पर गिर पड़े। मैंने

इन्हें कंबलों से ढक दिया। पर ये सोए नहीं। छत की ओर देखने लगे। मैंने फिर पूछा—'कहाँ चले गए थे इतनी रात को?' इस बार इन्होंने मेरे प्रश्न को सुना और बोले—'जब तुम मेरे पास से चली आई थीं उस समय मेरे मन में यही विचार उठ रहा था कि इस समय वह कहाँ होगी। मैं बार-बार सोचता था कि यदि उसे आज ही कुर्ती दे दी होती तो अच्छा होता। इस ठंडी हवा से वह अपना शरीर बचा लेती। इस समय उसे कितना कष्ट होता होगा। किस तरह हवा उसके फटे वस्त्रों में उद्दंडता से घुसती और उसकी हड्डियों को एक-एक कर के कँपाती होगी, इसका मैंने कुछ अनुभव करना चाहा। परदों को खोल दिया, शरीर पर पहने कपड़ों के बटन खोल दिए, पर मैं सर्दी का अनुभव बिल्कुल नहीं कर रहा था। मैंने एक अजीब दृश्य देखना शुरू किया। मैंने देखा कि खुले मैदान में वही दुखनी लाठी टेक-टेक कर चल रही है। चारों ओर काला अंधकार है। फिर मैंने देखा कि बड़े-बड़े ओले पड़ रहे हैं। बुढ़िया ने अपने हाथ से अपना सिर ढक लिया है, पर इससे उसके सिर की रक्षा नहीं हो सकी! ओलों ने उसके सिर को अच्छी तरह चकनाचूर कर दिया। मैंने देखा उसका सारा बदन लोहू-लुहान हो गया है। फिर मैंने देखा कि वह चिल्लाने के लिए अपना मुँह खोलती है पर सर्दी इतनी है कि उसकी आवाज़ तक जम गई है। मुझे लगा कि वह 'सुखदेव' कहने का प्रयत्न कर रही है, पर उसके मुँह से शब्द निकल नहीं रहे हैं। फिर मुझे ऐसा लगा जैसे मुझे कोई खींच रहा है। मैं एक अनोखी इच्छा से उठा। मैंने कपड़े पहने स्वेटर और चेस्टर भी पहना, कुर्ती ली और साइकिल उठाकर चल दिया। मैं अनेक धर्मशालाओं में गया, अनेक मंदिरों में गया, जहाँ मैंने सुना और देखा था कि भिखारी रहते हैं। मैं ग़रीबों की बस्तियों में गया, नदी के घाटों पर गया, जहाँ मैं भिखमंगों को बैठे देखा करता था। मुझे कहीं जाने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता था,

मेरी साइकिल अपने आप उनकी ओर मुड़ जाती थी। मैं जहाँ-जहाँ जाता था, ज़ोर-ज़ोर से पुकारता था—'दुखनी ! दुखनी !' एक दो बार नहीं, दस-दस बार, पंद्रह-पंद्रह बार। लेकिन कहीं भी मुझे दुखनी न मिली। देखो, मेरा गला कितना बैठ गया है ! मैंने दीन-दुखियों को खूब देखा, उनके कष्टों को खूब देखा।

"इतना कहने के बाद ये थोड़ी देर के लिए चुप हो गये, फिर बोले—"एक धर्मशाला के दरवाज़े पर मैंने एक युवती भिखारिन देखी। उसके शरीर पर एक मैली फटी धोती थी—दुखनी की धोती से भी फटी, ऐसी अँधेरी और ठंडी रात्रि में उसके बच्चा हुआ था। उसके पास एक भी सूखा कपड़ा न था कि जिससे बच्चे को ढकती। मैंने अपना चेस्टर उतारा और उसे उढ़ा दिया। एक को अपनी स्वेटर दे दी। एक दूसरे नंगे लड़के को अपनी कमीज़ और बनियाइन दे दी।' इनकी बातों को सुनकर मुझे क्रोध आ रहा था। मैंने कहा—'किसी को धोती की ज़रूरत नहीं थी ?'

"बोले—आह ! धोती की याद मुझे आई ही नहीं। नहीं तो इसे भी किसी दीन-दुखी को दे आता। तुम समझती हो मैं नंगा हो जाता ? यह शरीर रूपी वस्त्र तो मेरे ऊपर रहता ही। पर इसे भी मैं उतारना चाहता था। इस अँधेरी रात में एक स्त्री का बच्चा मर गया था। एक कोमल आत्मा का वस्त्र ऐसी ठंडी रात में छिन गया था। मैं सोचने लगा ओह ! उसको कितना कष्ट होगा ! मैंने बहुत-बहुत चाहा कि अपना शरीर रूपी वस्त्र उतार कर उस आत्मा को उढ़ा दूँ। पर......देखो मैं अपनी छाती अपने नाखून से चीरना चाहता था जैसे कोट उतारने के लिए बटन खोला जाता है।" मैंने इनकी छाती देखी, सचमुच वहाँ नाखूनों के दाग़ बने थे।

मिसेज़ निगम कुछ और कहने जा रही थीं कि कृष्णा बाबू फिर

बिस्तर पर चौंक कर बैठ गए, कहने लगे—'दुखनी नहीं आई ?
आह ! वह गल-गल कर मर गई, ठिठुर-ठिठुर कर मर गई, काँप-काँप
कर मर गई। और मैं—मैं—मैं........' इतना कहकर वे कंबलों को
इधर उधर फेंकने लगे, बदन पर के कपड़े उतार-उतार कर फेंकने
लगे। हम दोनों ने प्रयत्न करके उन्हें कपड़ा पहनाया, लिटाया। मिसेज़
निगम ने उन्हें दवा दी। कुछ देर हम लोग उन्हीं के पास बैठे रहे।
जब वे शांत हुए तो हम लोग फिर अँगीठी के पास गए और मिसेज़
निगम ने कहना शुरू किया।

"अभी जब इन्होंने कपड़ा उतारा तो आपने भी देखा होगा कि
सीने में कितने बड़े-बड़े नाखून के दाग़ हो गए हैं। फिर इन्होंने न जाने
कितनी निरर्थक बातें कहीं, जो मुझे याद नहीं रहीं, कदाचित मुझे ही
वे निरर्थक लगती रही हों, पर रही हो वह कोई गूढ़ बात; क्योंकि मैं
इतना घबरा गई थी कि बातों का सिलसिला कुछ समझती न थी। रह-
रहकर मेरे कान सुन्न पड़ जाते थे। आखिर में इन्होंने कहा कि—
'कुर्ती मैंने किसी को नहीं दी, वह साइकिल में बँधी है, वह दुखनी
की है, दुखनी जीती होगी तो कल आएगी, तब यह कुर्ती उसको
दूँगा......।" इसे कहते हुए इनकी आँखें बंद हो गईं। पर थोड़ी देर
बाद फिर चौंक उठे—'वह दुखनी आई, बुलाओ, ले यहाँ तेरी कुर्ती
है।" बस तब से थोड़ी-थोड़ी देर पर चौंक उठते हैं, ऐसी ही बातें करते
हैं। बुखार चढ़ा हुआ है। सबेरे डाक्टर नागर को बुलाया था। उनसे
सब हाल मैंने बतलाया। दवा दी है, पर कोई लाभ नहीं बल्कि और
जल्दी-जल्दी चौंकने लगे हैं। जब से आप आए, तब से ही तीन-चार
बार चौंक चुके। मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ, क्या न करूँ।
हमारे कई आदमी दुखनी की तलाश में गए हैं। पर डाइन का कहीं
पता नहीं मिलता। न जाने कहाँ से आफ़त बनकर कल शाम को आ
गई थी।"

मैंने और कई डाक्टरों को बुलवाया। जितने डाक्टर थे उतनी राएँ थीं। अनेक दवाइयाँ दी गईं, अनेक उपचार किए गए पर वह दिन भर चौंक-चौंककर यही सब कहते रहे—'दुखनी नहीं आई, दुखनी जाड़ों मर गई, कुर्ती न पाने से मर गई, मेरे कारण दुखनी मर गई।' हम लोगों ने बहुत समझाया कि दुखनी आई थी, कुर्ती ले गई, दीना जाकर उसको दे आया, दुखनी मरी नहीं, जीती है, पर वे हमारी बातों में न आए। कभी कपड़े उतार-उतार कर फेंकते थे, कभी 'दुखनी-दुखनी' चिल्लाते हुए दरवाज़ों की तरफ़ दौड़ने की कोशिश करते थे। मैं समझ गया कि बिना दुखनी के मिले उनका चित्त शांत न होगा। मैं स्वयं उसे ढूँढने निकला पर कहीं उसका पता न मिला। मिसेज़ निगम तो इतनी घबरा गई थीं कि स्वयं उसे ढूंढने जाने को तैयार हुईं। कहने लगीं—'मैं शहर भर में 'दुखनी-दुखनी' चिल्लाती फिरूँगी, कभी तो मिलेगी ही, तभी घर लौटूंगी।'' मेरे बहुत कहने सुनने से वे रुकीं।

क़रीब चार बजे कृष्णा बाबू एकाएक बिस्तर पर उठ बैठे और चिल्लाकर कहने लगे—''ज़रूर-ज़रूर मर गई—दुखनी, तेरा गलित-पलित शरीर वस्त्र भी फटकर गिर पड़ा—अब तो तू ख़ूब जड़ाती होगी—ले मेरा लेले, ले।'' इतना कहकर वे अपने सीने को नाख़ूनों से चीरने-सा लगे। हम लोगों ने उनका हाथ थामा। दो-दो आदमी एक-एक हाथ थामे हुए थे, पर उनका हाथ सीने पर से हटा न पाते थे। थोड़ी देर बाद वे बेहोश हो गए। सारा सीना उन्होंने कुरेद डाला था।

थोड़ी देर बाद उन्होंने धीमे से अपना सिर उठाया और एक कोने में घूरते हुए अपना हाथ बढ़ाकर वे चिल्ला पड़े—'वह दुखनी की आत्मा! आई—वह—वह—वह, ठंडी आत्मा! ठिठुरती आत्मा!

काँपती आत्मा !" इतना कहकर एकदम चारपाई से उठ पड़े और झपटकर उसी तरफ़ को बढ़े और गिर पड़े जिस तरफ़ संकेत कर रहे थे। मैंने जल्दी से उन्हें उठाया। सारा शरीर ठंडा हो रहा था। मुख की आकृति बिगड़ गई। पुतलियाँ सफ़ेद हो गईं। डाक्टर तो बाहर बैठे ही थे। मैंने उन्हें आवाज़ दी। वे फ़ौरन आए। उन्होंने शरीर टटोल कर कहा—'प्राणांत हो गया !' घर में कुहराम मच गया।

दुखनी फिर कभी न आई।

कृष्णा बाबू की मृत्यु का कारण उनके हृदय की उत्कट दयालुता थी अथवा फिलासफ़रों की झक इस बात को मैं आज तक निश्चित नहीं कर सका।

ठाकुर जी

एक छोटा-सा घर था। उसमें एक छोटा-सा परिवार रहा करता था। कुल जमा तीन आदमी थे, एक बुढ़िया अपने बेटे और बहू के साथ रहती थी। यह एक हिंदू परिवार था। इस घर में एक अनुपम शांति निवास करती थी। इसका कारण कदाचित घर वालों का नियमित कार्यक्रम था।

बुढ़िया रोज़ चार बजे सवेरे उठती; नित्य-कर्म से निवृत होकर लोटा, धोती और डोलची लेकर नहाने चली जाती। घर से गंगा जी कोई तीन, चार मील की दूरी पर थीं। जब बुढ़िया जाने लगती, बहू को जगा देती। बहू उठती, चक्की चलाती, घर बुहारती और फिर स्नान इत्यादि करके भोजन बनाने का सामान करने लगती। राजकुमार—यह बुढ़िया के बेटे का नाम था—ज़रा देर से उठता और नित्य-कर्म करके रामायण-भागवत पढ़ता। उसे धार्मिक पुस्तकों से बड़ा प्रेम था। वह क़रीब साढ़े आठ बजे भोजन करता और दफ़्तर चला जाता। कभी राजकुमार के दफ़्तर जाने के कुछ पहले, और कभी जाने के कुछ ही देर बाद बुढ़िया नहाकर आ जाती। आकर वह ठाकुर जी को जगाती; उन्हें नहलाती, भोग लगाती, अगयारी करती और माला जपती। इन सब कामों में उसे ग्यारह-बारह बज जाते। बहू सास की बड़ी भक्त थी। वह पति को खिलाकर रसोई से निकल आती और पूजा के पास हाथ जोड़कर बैठी रहती। जब सास पूजा कर लेती तब वह पहले उसे भोजन कराती, पीछे आप करती। गंगा जी बड़ी दूर थीं। बुढ़िया थक जाती। खाना खाने के बाद वह लेट जाती, और बहू बैठ कर पाँव दबाने लगती। शाम को उठकर बुढ़िया एक पास के मंदिर

में चली जाती और बहू खाना बनाने में लग जाती। शाम होते-होते राजकुमार भी आ जाता। राजकुमार भोजन करके कहीं घूमने चल देता। मंदिर से लौटकर जब बुढ़िया आती तब सास-पतोहू बैठकर भोजन करतीं। राजकुमार के लौटने के पहले तक वे लोग भजन गातीं, कथा-वार्ता करतीं। फिर सब सोते।

प्रायः उनके सभी दिन इस प्रकार बीतते थे। न कभी हँसी होती, न कभी रोना होता; न लड़ाई होती, न बखेड़ा होता। पर कुछ दिनों बाद एक ऐसी बात हुई जिसने इस घर का वातावरण ही बदल दिया।

× × × ×

राजकुमार के मित्रों में एक महाशय राजकृष्ण थे। इनसे दफ़्तर के ज़रिये जान पहचान हुई थी। महाशय राजकृष्ण आर्यसमाजी थे, और इन्हें दिन-रात आर्य्यसमाज के प्रचार की फ़िक्र रहती थी। अपने नए मित्रों को इनका पहला उपहार 'सत्यार्थ प्रकाश' का हुआ करता था। यह पुस्तक इन्होंने राजकुमार को भी दी। राजकुमार सनातन धर्म का मानने वाला था। उसे यह पुस्तक लेने में कुछ झिझक सी मालूम हुई; पर मित्र की दी हुई वस्तु को लौटाएँ कैसे, यह सोचकर उसने उसे ले लिया। उसने अपने मन को इस प्रकार समझा लिया, किसी बात को जानने में हर्ज ही क्या है, सुने सब की, करे अपने मन की। पुस्तक ले जाकर उसने रामायण-महाभारत से दूर एक ऊँचे ताक़ पर रख दी, जैसे इस पुस्तक के स्पर्श से ही वे पुस्तकें अपवित्र हो जातीं।

राजकुमार ने सोचा था, क्यों इस पुस्तक पर निगाह पड़ेगी और क्यों यह पढ़ी जायगी; किताब है, पड़ी रहेगी घर में। पर इतने ही से छुटकारा मिलने को न था। राजकृष्ण किताब देकर ही

चुप न बैठे रहे। जब कभी मौक़ा पाते राजकुमार से पूछते, "क्यों भाई, कितना पढ़ा ? मानते हो न स्वामी जी की बातें ? कोई बात अगर तुम मानने को तैयार न हो तो हम तुमसे बहस कर सकते हैं; तुम्हारी सब शंकाओं का मैं समाधान कर सकता हूँ।" राजकुमार के लिए कोई बचाव न था। राजकृष्ण की दलीलों के सामने हक्का-बक्का हो जाता।

थोड़े दिन और बीते। धीरे धीरे राजकुमार के आर्य्य-समाज के प्रति जो घृणा के भाव थे जाते रहे। पहले जब राजकृष्ण के घसीटने से वह उसके साप्ताहिक अधिवेशनों में जाता तो अब कहने ही से तैयार हो जाता। धीरे-धीरे वह उसके उत्सवों में चंदा देने और हाथ बटाने लगा। अभी वह पूरा आर्य्यसमाजी तो नहीं बना था पर वह दिन अब दूर न था। स्वामी दयानंद का जादू उस पर चल चुका था। अब तो जिस किसी से वह मिलता उससे 'नमस्ते' ही करता। लोग फौरन् पूछते, "क्यों जी, आर्य्य-समाजी हो गए क्या ?" बस, इसीपर बहस छिड़ जाती और राजकुमार मूर्तिपूजा से लेकर मृतक-श्राद्ध पर्यंत सब बातों पर अपना व्याख्यान दे जाता।

राजकुमार को अपनी माँ ही से आर्य्यसमाजी होने की अनुमति लेनी थी। एक दिन उसने अपनी माँ से कहा, 'अम्मा अब तो होऊँगा मैं आर्य्यसमाजी।' माँ ने कुछ क्रोध और कुछ अधिकार भरी दृष्टि से राजकुमार को देखा, बोली, 'क्या कहते हो !—आर्य्यसमाजी ? यह तुम्हें क्या सूझी ? तुम्हारे खान्दान में भी कोई हुआ है कि तुम्हीं चले होने। आर्य्य-समाजी ! आर्य्य-समाजी तो छत्तीसो जात का जूठा खाते हैं, और अब सुनती हूँ कि मुसल्मान-ईसाई का भी जूठा खाते हैं। आर्य्य-समाजी नहीं तो सब होगे !"

राजकुमार अपनी माँ का अदब करता था; या यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि वह उससे डरता था। माँ जितना पानी पिलाती

उतना ही पीता। माँ की बात का जवाब उसने कभी न दिया था। उसके जीवन में आज यह पहली बात हुई कि वह माता के क्रोध पर हँस पड़ा। इस हँसी में माता की बातों के प्रति अवहेलना भरी थी। राजकुमार का परिवार एक शांत सरोवर था। उसकी इस हँसी ने उसके बीच में एक पत्थर फेंक दिया। तरंगें उठने लगीं।

× × × ×

सभी नए विचारों को स्थान पाने के लिए युद्ध करना पड़ता है। यही युद्ध राजकुमार के घर में भी छिड़ गया। रोज़ बहस, रोज़ विवाद होने लगे। आखीर में एक दिन माता को यह कहना पड़ा, 'जाओ, जो जी में आए करो; जब नहीं मानते किसी की बात तो करो, भैय्या, जो जी चाहे।' राज़ी से कहिये या नाराज़ी से, किसी तरह माँ की आज्ञा उसे मिल गई। उसने आर्य्य-समाज के फ़ार्म पर हस्ताक्षर कर दिया।

जब कोई मनुष्य किसी नए धर्म में प्रविष्ट होता है तो उसकी यह इच्छा होती है कि वह औरों को भी उसका अनुयाई बनाए। राजकुमार की भी यह इच्छा हुई। उसने चाहा कि मैं अपने सब परिवार को आर्य्य-समाजी बना दूँ। उसका पहला धावा स्त्री पर हुआ। स्त्री पढ़ी लिखी न थी। राजकुमार का समझाना-बुझाना उसकी समझ में न आया। पर पति के प्रति आदर दिखाने के भाव से उसने कुछ-कुछ उसके मन के अनुसार करना आरंभ किया। पति के सामने तो वह न तुलसी को जल चढ़ाती और न ठाकुर जी को सिर झुकाती पर जब पतिदेव न रहते तब सब कुछ करती। सास के सामने सास का ऐसा करती और पति के सामने पति का ऐसा। राजकुमार माँ को भी आर्य्य-समाजी बनाना चाहता था। पर वह कभी राजकुमार को पास ही न फटकने देती; वह उससे धर्म के विषय पर बात ही न करती। लेकिन

राजकुमार माता को सदा छेड़ा करता था। जिस दिन राजकुमार को दफ़र से छुट्टी होती उस दिन तो बुढ़िया का पूजा करना मुश्किल हो जाता। जहाँ बुढ़िया ठाकुर जी को लेकर बैठती, राजकुमार भी आ बैठता, और तरह-तरह के टेढ़े-मेढ़े सवाल पूछने लगता। कहता, 'अम्मा, यह तुम्हारे ठाकुर जी बड़े सोअक्कड़ हैं। सब तो यह कहते हैं कि सवेरे उठना सबसे अच्छा है, पर आप दस बजे उठते हैं, और सो भी कब? जब कान के ऊपर घड़ियाल घहरता है तब। कहीं इन्हें कोई जगाए न तो हमेशा सोते ही रहें। और फिर जहाँ खाना-पानी मिला फिर लगे सोने। यह तुम्हारे ठाकुर जी हैं कि कुंभकर्ण के लकड़-दादा?' बुढ़िया कहती, 'हैं जो हैं मेरे ठाकुर जी, तुझे क्या करना, जा दूर हो यहाँ से।' बुढ़िया ये बातें क्रोध से न कहती। वह राजकुमार की बातों को केवल हँसी समझती। पर कभी-कभी राजकुमार की शैतानी हद से ज़्यादा बढ़ जाती। तब तो बुढ़िया आग बबूला हो जाती।

एक दिन ऐसा हुआ कि बुढ़िया पूजा-पाठ कर चुकने पर आँख मूँदकर माला जपने लगी। राजकुमार चुपके-चुपके आया, और धीरे से उसने ठाकुर जी को उठाकर छप्पर पर रख दिया। जब बुढ़िया की आँखें खुलीं तो उसने देखा कि ठाकुर जी ग़ायब हैं। समझ गई—होगी रजुआ की करतूत। राजकुमार बाहर आ बैठा था। बुढ़िया चिल्लाई, 'क्यों रे, तूने मेरे ठाकुर को क्या किया, बोल।' राजकुमार हँसी रोकता हुआ अंदर आया और आश्चर्य प्रकट करते हुए बोला, 'क्या हुआ?'

"हुआ क्या, तेरा सिर? कहाँ लेगया ठाकुर जी को?"

"ठाकुर जी को? मैं? क्या यहाँ नहीं हैं? कहीं अंतर्द्धान न हो गए हों?"

"बोल जल्दी नहीं इसी चौकी पर सिर पटक दूँगी।"

"कहीं चूहे तो नहीं उठा ले गए तुम्हारे ठाकुर को।"

बुढ़िया की आँखें पल भर में घर भर में दौड़ गईं। उसने छप-रैल पर ठाकुर जी को पड़े देखा। लाखों की संपत्ति मिल गई। 'बेईमान ने यहाँ लाके रख दिया मेरे ठाकुर को—इतना घाम—जलते में रख दिया मेरे ठाकुर को—जा तेरे हाथ कटकर गिर पड़ें' इत्यादि कहती हुई बुढ़िया एक खाट घसीट लाई। उसपर उसने एक मचिया रक्खी, जल्दी से ठाकुर जी को उठा लिया, फिर से उन्हें स्नान कराया और बड़ी देर तक वह एक भीगे वस्त्र से उनपर पंखा करती रही। राज-कुमार यह सब देखकर छिप-छिपकर हँस रहा था। जब माँ का क्रोध कुछ शांत हुआ तब वह उसके पास आया और बोला, 'तुम्हीं बताओ ऐसे ठाकुर को पूजने से क्या फ़ायदा जिनमें इतनी भी ताक़त नहीं कि अपने से उठ-बैठ सकें। तुम्हें पूजना चाहिये उस ईश्वर को जो सर्व-शक्तिमान् है। स्वामी दयानंद कहते हैं कि जो मूर्ति पूजता है वह अनेक जन्म तक नर्क में रहता है।' बुढ़िया क्रोध से बोली, 'भाड़ में जायँ तुम्हारे ईश्वर और चूल्हे में जायँ तुम्हारे दयानंद। मैं तो जीते जी अपने ठाकुर जी को न छोड़ूँगी।'

× × × ×

रामनवमी का दिन था। बुढ़िया आज के दिन ठाकुर जी का जन्म करती थी। वह आज तीन ही बजे सबेरे उठकर नहाने गई थी। जल्दी ही लौटी और घर में आकर पूजा पाठ का सामान करने लगी। उसने प्रसाद बनाया, पंचामृत बनाया, फल काट कर रक्खे। राजकुमार को मालूम था कि आज क्या होगा। फिर भी माता को खिझाने के लिए वह पूछने लगा, 'आज क्या है भाई बड़ा सामान है।'

बुढ़िया बोली, 'जानते नहीं आज रामनवमी है—आज मैं ठाकुर

जी का जन्म करूँगी—देख रजुआ आज कोई शरारत न करना, तुझे ढेर-सा प्रसाद दूँगी।'

'तो अम्मा तुम्हारे ठाकुर जी मरेंगे कब ?'

'की न शुरू तूने बदमाशी।'

'बदमाशी क्या की ? यह तो क़ुदरत का क़ायदा है कि जिन चीज़ों का जन्म होता है उनकी मृत्यु भी होती है। जब ठाकुर का जन्म होता है तो ठाकुर की मौत भी होगी।'

'देखो बेटा देवी-देवता से हँसी अच्छी नहीं होती।'

राजकुमार ने आज कोई और शरारत न की पर तीन-चार दिन बाद उसने एक दिन ठाकुर जी को उठा लिया और ले जाकर उन्हें गंगा जी में फेंक दिया। राजकुमार जिस बात को सोचा करता था वही कर बैठा। बाद को उसे अपने काम का अनौचित्य प्रतीत हुआ, पर अब क्या हो सकता था; ठाकुर जी गंगा जी की तह में पहुँच चुके थे। जिस बात को केवल हँसी में कर डाला था उसकी गंभीरता पर विचार करने लगा। उसने अपने मन को इस प्रकार समझा लिया कि यदि माँ ठाकुर पूजने पर अनुरोध ही करेंगी तो उन्हें दूसरे ठाकुर जी ले दूँगा—उनसे बड़े ठाकुर जी ले दूँगा—और क्या होगा ? माँ के गंगा नहाने जाने के बाद वह अपने एक मित्र की साइकिल लेकर ठाकुर जी को गंगा में फेंकने गया था। वह इस भय से कि कहीं रास्ते में उसकी माँ से भेंट न हो जाय ठाकुर जी को एक ऐसे घाट पर फेंकने गया था जहाँ वह कभी-कभी ही नहाने जाती थी। जल्दी घर आकर उसने खाना खाया। दफ़्तर जाने की तैयारी में ही था कि बुढ़िया नहाकर आ गई। बड़ी विधि से हाथ पाँव धोकर उसने घंटा घड़ियाल बजाया, स्तुति प्रार्थना की और ठाकुर जी का पट खोला, ठाकुर जी तो वहाँ थे ही नहीं। बुढ़िया चिल्ला पड़ी।

'क्यों रे आज तूने फिर ठाकुर को हटाया ?'

'अम्मा आज तुम्हारे ठाकुर जी मर गए।'

'मुझसे हँसी न कर— कहाँ ले गया मेरे ठाकुर को ?'

'जहाँ लोग मरने के बाद जाते हैं, और कहाँ ?'

'क्या गंगा जी में डाल आया ?'

राजकुमार हँसा। बुढ़िया की आँखों में आँसू भरे थे। क्रोध के मारे चेहरा लाल पड़ गया था। बोली—

'और फेंका कहाँ तूने? राम घाट की तरफ़ आते-जाते तो मैंने तुझे देखा नहीं।'

बुढ़िया के इस प्रश्न में तनिक भी आवेश न था। मनुष्य थोड़े क्रोध में बलबलाने लगता है, पर जब क्रोध बहुत अधिक हो जाता है तब वह चुप हो जाता है। उसकी सारी शक्ति क्रोध के बोझ से दब जाती है। यही दशा बुढ़िया की थी।

राजकुमार बोला, 'ख़ैर, फेंका तो है मैंने हनुमान घाट पर, लेकिन अब तुम पता लगाने मत चलना। मिलेंगे नहीं। नाराज़ न हो। बहुत करोगी, ठाकुर जी ही लोगी कि किसी की जान लोगी। उनसे भारी ला दूँ, तब मानना।'

राजकुमार को दफ़्तर की देरी होती थी। वह झट घर से निकला और चल दिया। बुढ़िया कुछ देर चुपचाप बैठी रही। फिर वह उठ कर घर से निकलने को हुई कि बहू ने पूछा, 'कहाँ जाती हो अम्मा ?' लेकिन बुढ़िया बहू की बात अनसुनी करके सड़क पर चली आई। बहू दरवाज़े तक दौड़ी, उसने एक-आध बार पुकारा भी पर बुढ़िया दूर निकल गई थी। परदानशीन बहू अधिक क्या कर सकती थी ?

× × × ×

गर्मी के दिन—दोपहर का वक्त—जलती हुई ज़मीन—और गर्म गर्द से भरी हुई तेज़ हवा—ऐसे में एक बुढ़िया नंगे पैर, पाँच छः मील पैदल चलकर थकी हुई, बिना दाना, बिना पानी एक सड़क पर हौले-हौले चली जा रही है। कभी चलने लगती है और कभी दौड़ने लगती है। उसकी चादर कहाँ गिर पड़ी, इसका उसे पता नहीं। चलती ही जाती है। राजकुमार की माँ है।

बुढ़िया हनुमान घाट पर पहुँच गई। पुजारी पंडे सभी चले गए थे। एक मल्लाह का लड़का अपनी नाव का पानी निकाल रहा था। बुढ़िया ने पूछा, 'तूने मेरे लड़के को सवेरे गंगा जी में कोई चीज़ फेंकते देखा था?'

लड़का बोला, 'क्या? लड़का? कैसी चीज़?'

'मेरे ठाकुर जी को मेरे लड़के ने गंगा जी में फेंक दिया है। तुम लोग तो गंगा जी में से पाई, पैसे ढूँढ लाते हो, मेरे ठाकुर जी को ढूँढ दो, जो माँगोगे सो दूँगी।'

'एक रुपया लूँगा—लाओ। पहले दे-दो तो ढूँढूँ। ढूँढ तो मैं लाऊँगा छन भर में।'

बुढ़िया के पास इस समय एक पैसा भी न था। उसकी बाँह में चाँदी का अनंता था। उसने कहा, 'ले मेरा अनंता ले ले, यह पाँच रुपए का है। देखूँ तो, तू कितनी जल्दी ढूँढता है।'

मल्लाह का लड़का चट पानी में कूद पड़ा। इधर गया, उधर गया। यहाँ डुबकी मारी, वहाँ डुबकी मारी। घंटे भर में उसने सारा घाट मथ डाला पर ठाकुर जी न मिले। बुढ़िया उसपर आँख लगाए बैठी रही। इतने में एक और मल्लाह का लड़का आ गया। उसने बुढ़िया से पूछा—

'ओ बुढ़िया ! क्यों बैठी है ?'

'तुझे तैरना आता है ? गंगा जी में मेरे ठाकुर जी गिर पड़े हैं, निकाल दे पैसा दूँगी ।'

'दिखाओ पैसा ।'

'तू निकाल तो ला, घर चलकर दूँगी ।'

'तो फिर जाके अपने आप ढूँढ ।'

इतना कहकर वह बुढ़िया को मुँह बना-बनाकर सुनाने लगा :—

जिन ढूँढा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ,
तू बौरी ढूँढन चली रही किनारे बैठ ।

—रही किनारे बैठ । बैठ-बैठ-बैठ !

इतने में पहले वाला लड़का पानी से बाहर आकर बोला, 'मुझे ठाकुर जी नहीं मिलते ।' पर जब बुढ़िया ने अपना अनंता लौटाने को कहा तो वह बोला, 'जो मैंने दो घंटे जान दी वह कहाँ गई ?' बुढ़िया ने फिर अनंता माँगा । पर दोनों मल्लाह के लड़के वही ऊपर वाली पंक्तियाँ ज़ोर-ज़ोर से गाते हुए बस्ती की तरफ़ भाग गए । बुढ़िया ने उनकी ओर ध्यान ही न दिया । क्षण भर बाद वह नदी के पार से इन्हीं पंक्तियों की प्रतिध्वनि सुनकर चौंक पड़ी ।

थोड़ी देर बाद बुढ़िया पानी की ओर हाथ जोड़ कर कहने लगी, 'हे ठाकुर जी ! जो तुम्हारे में सत हो तो अपने आप पानी से निकल आओ—निकल आओ भगवान् !—हे नारायण ! हे त्रिलोकी नाथ ! निकल आओ ।' बुढ़िया कभी पानी में झाँकती, कभी छिछले पानी में जाकर टटोलती, कभी लंबी साँस खींचती, कभी विनती करती, कभी रोने लगती, उसकी अनोखी दशा थी ।

× × × ×

दिन भर बीत गया था। सूर्य डूबने ही को थे। हवा बंद हो गई थी। चारों ओर सुनसान था। नदी अपनी चाल से बह रही थी। राजकुमार की माँ मूर्ति की तरह बैठी थी। मल्लाह के लड़कों ने किनारे पर खेलने के लिए अनेक बालू के ढेर बना रक्खे थे। बुढ़िया भी एक बालू का ढेर मालूम होती थी।

थोड़ी देर में सूर्य्य भी अस्त हो गया। चंद्रमा की किरणें गंगा की लहरों के साथ खेलने लगीं। एकाएक बुढ़िया उठी, चिल्ला पड़ी—'जिन ढूँढा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैंठ—गहरे पानी पैंठ।' बुढ़िया तैरना नहीं जानती थी। पर उसने इन शब्दों के साथ पानी में घुसना आरंभ किया—घुटने तक पानी में गई—कमर तक पानी में गई—कंधे तक पानी में गई—वह उतराने लगी। पशुओं को तैरना स्वभाव से ही आता है, उन्हें सीखने की आवश्यकता नहीं होती। बुढ़िया पानी में ऐसा तैरने लगी जैसे उसे तैरना स्वभाव से ही आता था। वह बीच में डुबकी लगाती और कहती—'ये—ठाकुर जी आए मुट्ठी में!' पर जब वह मुट्ठी खोलती तो कहीं कंकड़ रहता कहीं बालू रहती। वह फिर डुबकी लगाती—'ये अबकी बार हाथ में आए!' फिर हाथ खोलती—कहीं घोंघे निकलते कहीं सीप। फिर डुबकी—फिर डुबकी—फिर डुबकी! पर ठाकुर जी कहाँ?

× × × ×

एक नवयुवक एक तेज़ी से आते हुए इक्के पर से कूदा। झपटकर मल्लाहों की बस्ती में आया, 'यहाँ दिन को कोई बूढ़ी औरत आई थी?'—यह राजकुमार था। एक मकान पर दो लड़के मिले, बोले, "हाँ, आई थी, उसके ठाकुर जी खो गए थे?'

'हाँ, हाँ।'

'हम लोगों से ठाकुर जी को ढूँढने को कहा और ढूँढने पर यह चाँदी का अनंता देने को कहा।'

'तो क्या तुम्हें ठाकुर जी मिल गए थे?'

'ठाकुर जी तो नहीं मिले, लेकिन बुढ़िया ने अनंता हमारी मिहनत के लिए दे दिया।' राजकुमार ने अनंता लड़कों के हाथ से ले लिया।

'तो बुढ़िया किधर गई?'

'यह तो हमें नहीं मालूम।'

राजकुमार घाट की तरफ़ गया। बुढ़िया डुबकियाँ लगा-लगाकर यह कह रही थी, 'ये......इस बार लगे हाथ!' 'ये पाया!' 'अबकी बार......ये!' राजकुमार अपनी माता की बोली भी न पहचान सका। उसकी आवाज़ बदल गई थी। आश्चर्य से भरा वह किनारे खड़ा रहा। उसकी माता बिना तैरना जाने हुए किस प्रकार इतने गहरे पानी में तैर रही है, और डुबकियाँ मार-मार कर ऊपर आ रही है? यह उसकी समझ में न आ सका। पर इतना तो उसे विश्वास हो गया कि हो न हो यह माँ ही है। राजकुमार ने किनारे खड़े होकर आवाज़ दी 'आओ, लो यहाँ हैं तुम्हारे ठाकुर जी—आओ-आओ।' बुढ़िया तैरकर किनारे आई। उसने कड़ी आवाज़ में पूछा—

"कहाँ हैं ठाकुर जी?"

"घर पर"

"ठीक?"

"ठीक"

"चलो, दो..."

बुढ़िया की आँखें लाल थीं। चेहरे के सामने सिर के बाल लटक आए थे। पानी की बूँदें लटों से टपक रही थीं। कमर के ऊपर की

बोती नीचे चली गई थी। उसकी सूरत भयानक किंतु करुणा-जनक थी। वह किसी और ही लोक के जीव-सी मालूम पड़ती थी। वह कुछ देर चुपचाप खड़ी रही, फिर गिर पड़ी, बेहोश हो गई। कई मल्लाहों की सहायता से राजकुमार अपनी माँ को ऊपर लाया। उसे इक्के पर लिटा दिया। आप भी इक्के पर बैठा। इक्का घर पहुँचा। उसकी माँ को होश न आया। वह उसे भीतर ले गया। बहू ने उसके कपड़े बदले। थोड़ी देर बाद बुढ़िया का सारा शरीर तवे की भाँति जलने लगा। उसे ज़ोरों से बुखार आ गया था। राजकुमार माँ को अपनी स्त्री के पास छोड़कर डाक्टर के यहाँ गया।

बुढ़िया चौंककर चिल्ला पड़ी—'जिन ढूँढा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ—गहरे पानी पैट—गहरे पानी पैठ।' बुढ़िया चारपाई पर यह कहते हुए ढूँढने लगी—'ये ठाकुर जी पाया!' 'ये ठाकुर जी पाया!!' फिर चारपाई पर खड़ी हो गई। कहीं इधर हाथ मारती, कहीं उधर हाथ मारती। ऐसा मालूम होता था जैसे हवा में तैर रही है। बहू मारे डर के थर-थर काँपने लगी। उसमें इतनी शक्ति कहाँ थी कि बुढ़िया को धर पकड़कर बिठलाती। थोड़ी देर में राजकुमार आया। यह दृश्य देखकर बहुत घबराया। बुढ़िया को शांत करने के सब प्रयत्न निष्फल गए। राजकुमार बारबार कहता, 'अम्मा मैं तुम्हें दूसरे ठाकुर जी मँगा दूँगा, मान जाओ, लेट रहो—लो दवा पियो।' पर बुढ़िया कहाँ सुनने की? वह वायु के प्रकोप में थी। वह एकाएक चारपाई से कूदकर आँगन में आ गई, ताली दे दे कर नाचने लगी। गाती—

ठाकुर क्यों नहिं आओ
पास हमारे तुम्हें पुकारूँ जी,
ठाकुर क्यों नहिं आओ
पास हमारे तुम्हें पुकारूँ जी।

राजकुमार ने कई बार बुढ़िया के पास जाकर उसे पकड़ना चाहा पर वह न पकड़ाई दी। एक बार उसने उसे ऐसे ज़ोर से ढकेला कि वह गिरते-गिरते बचा। राजकुमार की स्त्री कोने में बैठी रो रही थी। राजकुमार 'किं कर्तव्य विमूढ़' होकर अलग खड़ा था। धीरे-धीरे बुढ़िया का स्वर उच्च होने लगा। पैरों की गति भी तीव्र हो गई। सर के बाल खड़े हो गए। हाथों को तो वह इतने आवेग से फेंकने लगी कि मालूम होता था कि वह आकाश में अब उड़ी—अब उड़ी।......बड़ा भैरव नृत्य था—और उससे भी भयंकरा थी उस नर्तकी की परछाईं जो गृह के टिमटिमाटे हुए दीप के प्रकाश में दीवालों पर अपना मूकनृत्य अलग ही दिखा रही थी।

नाचते-नाचते बुढ़िया धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी। उसकी आँखें उलट गईं, साँस धीमी पड़ गई।

'ठाकुर क्यों नहिं आओ
पास हमारे तुम्हें पुकारूँ जी,
तुम नहिं आओ पास
हमारे मैं तो आऊँ जी
मैं तो.........

ये उसके अंतिम शब्द थे। बुढ़िया ठाकुर जी के पास पहुँच गई। राजकुमार ने अपनी माँ का शरीर हनुमान घाट में ही प्रवाहित किया। वह जो ईश्वर के निहोरे जड़ पदार्थों के सामने अपना सिर न झुका सकता था, उसे मनुष्य के निहोरे झुकाना पड़ा। अपनी माँ का चाँदी का अनंता राजकुमार ने ठाकुर जी की जगह पर रख दिया है। वह प्रतिदिन प्रातःकाल पट को खोलता है। अब घंटे घड़ियाल तो नहीं बजते, पर जब राजकुमार इस अनंते को देखकर अपना सिर झुकाता

है तो उसकी आँखों में वही श्रद्धा और भक्ति भरी रहती है जो उसकी स्वर्गीया माँ की आँखों में ठाकुर जी का पट खोलते समय रहा करती थी।

उऋण

जिस दिन लाला रामनारायण ने दक्खू को नौकर रक्खा उसी दिन उनके एक लड़की हुई। लाला रामनारायण अधेड़ हो चुके थे पर उनके कोई बाल-बच्चा न था। लड़की के होने पर उन्हें ऐसी ही ख़ुशी मालूम हुई जैसे लड़का हुआ हो। दक्खू के लाला जी के यहाँ नौकर होने और उनकी कन्या की उत्पत्ति में कोई संबंध न था, फिर भी दोनों बातें एक ही दिन होने से सदा के लिए संबद्ध हो गईं।

दक्खू की उम्र कोई पैंतीस बरस की होगी। उसके कोई और न था। माँ-बाप मर चुके थे। उसने व्याह किया था, पर उसकी स्त्री भी मर चुकी थी। उसके चार पाँच बच्चे भी हुए थे पर सब मर गए थे। दक्खू सदा उदास रहा करता था। उसकी जात-बिरादरी वालों ने उसे फिर व्याह करने पर बहुत ज़ोर दिया था, पर उसने साफ़ इन्कार कर दिया था। सोचता, जब एक बार राम ने सब कुछ देकर छीन लिया तब फिर कौन बार-बार जंजाल में फँसे। अच्छा हुआ सब मर गए; मैं अब निर्द्वंद होकर कमाऊँगा, खाऊँगा, राम का नाम लूँगा। दुखी चित को किसी तरह समझाना था, दक्खू ने इसी तरह समझा लिया। उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट था। सब काम बड़ी ख़ुशी से करता था। कोई एक काम कहे तो दो करने को तैयार रहता था। उसे अपने शरीर पर भरोसा था। दक्खू जाति का कहार था।

लाला रामनारायण भी अनुभवी पुरुष थे। दुनिया देख चुके थे। दक्खू देखने में सीधा और ईमानदार आदमी मालूम होता था। बात-चीत से मालूम होता था कि यह आदमी वफ़ादारी से काम करेगा। समझ गए आदमी टिकनेवाला है। दक्खू को उन्होंने खाने-कपड़े और

एक मामूली तनख्वाह पर नौकर रख लिया। मकान ही में एक कोठरी दे दी। दक्खू को और क्या चाहिए था? उसके पास कुछ बहुत सामान तो था नहीं। घर-गृहस्थी की चीज़ें उसने पहले ही बेंच-बाँच कर अलग कर दी थीं। एक चारपाई थी, एक बिस्तरा; एक लकड़ी का संदूक था जिसमें दक्खू अपने कपड़े वग़ैरा रक्खा करता था, एक थाली थी, एक लोटा, एक पान-सुपारी-कत्था रखने का बड़ा-सा थैला था और एक हुक्का-चिलम और एक डंडा था। एक ही कोठरी में उसका सारा सामान समा गया। दक्खू लाला रामनारायण के यहाँ रहने लगा।

दक्खू बड़ा बुद्धिमान था। थोड़े ही दिनों में उसने जान लिया कि घर में कौन-कौन सा काम करने की ज़रूरत है। वह सब को ठीक समय पर करता और ठीक तरीक़े से करता। घर के सब लोग उसके काम से खुश रहते थे। दक्खू को काम करने में ही खुशी मालूम होती थी। यह तो उसके काम की दशा थी, पर उसका स्वभाव और व्यहार इससे भी बढ़कर सब का मन जीतनेवाला हुआ। वह अपने मालिक का बड़ा अदब करता था। उनके सामने कभी चारपाई पर न बैठता। उसे हुक्का पीने की आदत थी, पर लाला जी के सामने वह कभी हुक्का न पीता। सदा 'आप' कहकर बोलता और हमेशा डरता रहता।

लाला रामनारायण ने अपनी लड़की का नाम 'कमला देवी' रक्खा था, पर प्यार के लिए सब लोग उसे 'लल्ली' कहा करते थे। लाला जी के परिवार में ऐसा रिवाज था कि बच्चा जब तक छः महीने का न हो जाता था तब तक घर के बाहर नहीं लाया जाता था। लल्ली भी जब तक छः महीने की न हुई भीतर ही रहा करती थी। उसकी माँ ही उसे लिए रहा करती। दक्खू को भीतर जाने की कोई मनाही न थी मगर वह खुद ही ज़्यादा देर भीतर न बैठता। अपना काम-धंधा करके बाहर चला जाता।

जब 'लल्ली' छः महीने की हो गई तो एक दिन लाला रामनारायण ने दक्खू को बुला कर कहा, 'अब से तुम्हारा खास काम यह है कि तुम इस बिटिया को लिए रहा करो। काम चाहे हो या न हो पर बिटिया रोने न पाए। मैं देखूँगा कि अगर और काम ठीक नहीं होता तो चौका-बर्तन करने के लिए एक मज़दूरिन अलग रख लूँगा।'

दक्खू को यह सुनकर खुशी हुई। उसकी खुशी का कारण यह न था कि चलो काम से फुरसत मिली, काम से तो उसे हमेशा खुशी ही रहा करती थी। उसे बच्चों को खिलाने का खास शौक़ था पर क्या करे, परमात्मा ने उसके बच्चे छीन लिए थे। उसकी गोद में फिर एक बच्चा खेले-कूदेगा—इस बात ने उसके हृदय को गदगद कर दिया। बोला,

'जो हुकुम मालिक का।'

× × × ×

लल्ली को दक्खू दिन-रात लिए रहता। सारा काम उसे लिए-लिए करता, पर शिकायत की एक ज़बान मुँह से न निकालता। लल्ली भी दक्खू से खूब परच गई। उसी के हाथ से खाती, उसी के हाथ से दूध पीती। वही सुलाता तो सोती और उसी के पास खेलती। उस दिन दक्खू की खुशी का ठिकाना न रहा जिस दिन लल्ली ने उसे पहले-पहल 'आकू' कहकर पुकारा। उस दिन से दक्खू का नाम 'आकू' पड़ गया। और लोग भी उसे लल्ली के सामने 'आकू' ही कहते।

लल्ली और बड़ी हुई। दक्खू ही उसे कपड़े पहनाता, दक्खू ही उसे बाज़ार घुमाने और मेले-ठेले में ले जाता। दक्खू ही से लल्ली अपनी ज़रूरतें कहती। माँ जब झुड़क देती तब दक्खू से ही आकर उनकी शिकायतें करती। जब किसी चीज़ के लिए माँ पैसा न देती तो दक्खू से ही जाकर माँगती। दक्खू कभी इन्कार न करता। जो चीज़

लल्ली माँगती दक्खू ले देता। उसकी तनख़्वाह के बहुत से पैसे लल्ली के खिलौनों और मिठाइयों में खर्च हो जाते। एक दिन लल्ली की माँ को यह बात मालूम हो गई। उन्होंने समझा था कि लाला जी लल्ली के खर्च के लिए कुछ पैसे दक्खू को दे जाते होंगे पर जब लाला जी से उन्होंने पूछा तब उन्हें मालूम हुआ कि अब तक दक्खू अपने ही पैसे लल्ली के ऊपर खर्च किया करता था। लल्ली की माँ ने दक्खू को बुलाया। उनके दिल में दक्खू के प्रति बड़ा स्नेह उत्पन्न हुआ, पर उसको ज़रा डाँटती हुई बोलीं—

"तुम्हें तनख़्वाह तुम्हारे पान-तंबाकू वग़ैरह के लिए दी जाती है। तुम अपने पैसे लल्ली के लिए क्यों खर्च करते हो? कौन बहुत-सा पैसा तुम्हारे पास रहता होगा।"

दक्खू की आँखों में आँसू आ गया। बोला—

"मलकिन, मैं क्या खर्च करता हूँ। मेरा पैसा कहाँ से आया? सब आप ही का है। मैं तो आपका तावेदार हूँ। मेरे ही बाल-बच्चे होते तो........."

दक्खू की आँखों से दो बूँद आँसू गिर पड़े। बहू ने बीच ही में बात काटकर कहा।

'रोते क्यों हो, दक्खू?'

"सरकार, अपने बाल-बच्चों की याद आ गई। राम ने सब छीन लिए। आख़ीर में एक लड़की बची थी। लल्ली की तरह थी। वह भी मर गई। मलकिन, लल्ली को देखकर उसकी याद आ जाती है और मुहब्बत के मारे कुछ खिला-पिला देता हूँ, मुझे मना न करो।"

लल्ली थोड़ी देर के लिए कहीं चली गई थी। वह अपना झाँझ छुनछुनाती 'आक्' 'आक्' करती दक्खू की ओर दौड़ी और आकर

उसके दोनों पैरों के बीच में खड़ी हो गई। दक्खू ने उसे उठाकर गोद में ले लिया। उसकी आँखों के आँसू अभी सूखे न थे। लल्ली ने उसकी भीगी आँखों को देखा। माँ पास ही खड़ी थी। लल्ली अपने दोनों हाथों की उँगलियों को दक्खू की आँखों में गड़ाती हुई बोली—

"आकू ! अम्मा माला ?"

दक्खू ज़रा बनकर बोला,

"हाँ लल्ली, अम्मा ने माला है—ऊँ ऊँ ऊँ...?"

"तुप हो दाव, मिथाई हूँदी, धेल छी।"

दक्खू लल्ली को लेकर बाहर चला गया, बहू भी अपने काम-काज में लग गईं।

आज पहली बार लल्ली की माँ को यह मालूम हुआ कि दक्खू कोई मामूली नौकर नहीं है। वह उनकी लड़की को अपनी लड़की की तरह प्यार करता है। दक्खू पर सभी का पहले से भी विश्वास था, अब और अधिक हो गया। लाला जी ने दक्खू को बुलाकर एक दिन कहा कि तुम्हारी तनख्वाह २) और बढ़ा दी गई। दक्खू ने सिर झुका कर उत्तर दिया—

"मालिक की मर्ज़ी ! मैं क्या करूँगा रुपया पैसा ? आपके दरवाज़े पर पड़ा हूँ, मर जाऊँगा, पाँच गज़ कफ़न मँगाकर फेंकवा दीजिएगा। मेरे कोई खानेवाला बैठा है ? आपका जूठन खाने को मिलता जाय, आपका उतारन पहनने को मिलता जाय—यही मेरे लिए बहुत है।"

लल्ली की माँ कोई काम कर रही थीं, बोलीं—

"दक्खू रुपया जोड़ते जाओ, जब लल्ली का ब्याह करूँगी तब उसे कोई चीज़ बनवा कर दे देना, कुछ से पैर पूज देना, कुछ दामाद को दे देना।"

"अरे मलकिन, वह भी दिन आएगा जब मैं अपनी आँखों से लल्ली का ब्याह देखूँगा ! किसने देखा है । जीती रहे लल्ली ।"

"दिन बड़ी जल्दी बीतता है । लड़की के ब्याह की फ़िक्र माँ-बाप को उसके धरती गिरने के दिन से ही लग जाती है । अभी से रुपया जोड़ोगे तब तो काम चलेगा ।"

"मालिक, आप लोग बने रहो, मुझे रुपए की क्या कमी है ?"

बाहर से लल्ली के रोने की आवाज़ आई । दक्खू चट झपटकर बाहर चला गया ।

× × × ×

जैसे-जैसे लल्ली बढ़ती गई दक्खू की मुहब्बत भी उसके लिए बढ़ती गई । दक्खू कभी-कभी सोचता, मेरी बेटी भी ज़िंदा होती तो इतनी ही बड़ी होती । लल्ली बड़ी हो जाने पर भी उसे 'आकू' ही कहकर पुकारती थी । दक्खू भी लल्ली को उसी नाम से पुकारता था । दिन जिस तरह बीतते हैं बीता करते दुख आते, बीमारी आती; आना होता, जाना होता; तिथि-त्योहार आते, काम-काज पड़ते । सब मौक़ों पर दक्खू अपने काम में मुस्तैद रहता, पर आदमी ही था; कभी कुछ ग़लती हो ही जाती थी । डाँट-फटकार की भी नौबत आ पड़ती । छोड़ने-छुड़ाने तक मामला पहुँच जाता, पर कभी दक्खू अपनी ग़लती की माफ़ी माँग लेता और कभी लाला जी ही अपने क्रोध पर अफ़सोस प्रकट करते । प्रायः लल्ली के बीच में आ जाने से झगड़ा ते हो जाता था । जब-जब दक्खू नौकरी छोड़ने पर तैयार होता लल्ली आकर उसका गला पकड़ लेती, कहती, 'मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी, मैं तुम्हें न जाने दूँगी ।' माँ-बाप उसे डाँटते ।

'निकल जा तू भी । जा दखुआ के साथ गली-गली घूम ।'

पर इन थोथी धमकियों से लल्ली कब अपने आक् का पिंड छोड़ सकती थी। जब सब का क्रोध उतर जाता तब फिर दक्खू उसी तरह काम करने लगता, लाला जी और मलकिन फिर उसी तरह उससे खुश हो जाते। जहाँ चार वर्तन रहते हैं वहाँ टिन-टुन हुआ ही करता है। कभी ही कभी आए ऐसे झगड़ों से नौकर और मालिक के बर्ताव में कोई फ़र्क न आया।

लल्ली का ब्याह तै हो गया था। जब से लल्ली के ब्याह की चर्चा चलने लगी थी दक्खू की मुहब्बत उसकी ओर और बढ़ गई थी। लल्ली को तरह-तरह की चीज़ें लाकर खिलाता-पिलाता। सोचता, अब तो लल्ली अपने ससुर के घर चली जायगी; जितने दिन यहाँ है उतने ही दिन खिला-पिला लूँ, फिर तो उसके दर्शन भी दुर्लभ हो जायँगे। यह घर तो उसके चले जाने से बिल्कुल सूना हो जायगा। मेरा जी तो तब यहाँ बिल्कुल न लगेगा। फिर सोचता, जी लगे या न लगे, लल्ली को तो एक दिन इस घर से जाना ही होगा। क्या मैं चाहता हूँ कि लल्ली का ब्याह न हो? खैर, कहीं रहे, खुश रहे। लेकिन मैं अब किसे देखकर जीऊँगा! इसी प्रकार जब बैठता तब सोचा करता।

एक दिन सोचते-सोचते हँस पड़ा। उसके दिल में आया, कई बार जब मैं यहाँ नौकरी छोड़कर चलने को हुआ था, लल्ली ने आ-आकर मेरा गला पकड़ लिया था और कहा था, 'मैं भी साथ चलूँगी।' अब जब वह मुझे छोड़कर चलने लगेगी तो मैं भी यही करूँगा। उसका पैर पकड़कर बैठ जाऊँगा, कहूँगा, 'मैं भी तेरे साथ चलूँगा।' लल्ली मेरी बात पर हँसेगी तो नहीं। क्या अच्छा हो यदि लल्ली के ससुराल वाले मुझे भी उसके साथ ले चलें। बूढ़ा तो हूँ, पचास-साठ

की उम्र है। लल्ली की ससुराल की ड्योढ़ी ताकूँगा, एक रोटी खाऊँगा, कौन बड़ी बात माँगूँगा। पर, लल्ली अपने मनसे मुझे कैसे अपने ससुराल में रक्खेगी? उसके ससुर से कहूँगा।

बारात आई। ब्याह हुआ। विदा-विदाई का समय आया। नौकरों को भी गहने-कपड़े, रुपए-पैसे मिले। लड़के वाले ने लड़की की तरफ़ के नौकरों-चाकरों को दिया, लड़की वाले ने लड़के की तरफ़ के नौकरों-चाकरों को। सब नौकर-चाकर खुश थे; सबों ने अपना अपना बख़्शीश, इनाम ले लिया था, सिवा एक आदमी के। वह आदमी दक्खू था। समधी ने कहा, 'भाई, सब को खुश करके जाना चाहिए। नौकर क्या चाहता है? उसकी जो कुछ वाजिब ख़्वाहिश होगी पूरी की जायगी।' दक्खू समधी के सामने हाज़िर किया गया। सब घर वालों को बड़ा आश्चर्य्य था कि दक्खू जो सदा रुपए-पैसे को कौड़ी बराबर समझता था, आज क्यों मिलने—पाने के ऊपर इतना तुच्छ बन गया। लाला जी ने उसे बहुत समझाया था कि समधी साहब जो कुछ खुशी से दे-दें उसे ले-ले, बाद को वह जो कहेगा वे अपनी ओर से दे देंगे, पर दक्खू का सत्याग्रह न टूटा। दक्खू जब समधी साहब के सामने आया, हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। उसकी आँखों में आँसू भरा था। लाला रामनारायण ने अपने समधी को उसका परिचय देते हुए कहा, 'जिस दिन लड़की पैदा हुई थी, उस दिन से आज तक इसने लड़की की ख़िदमत की है, लड़की को बस अपनी ही लड़की की तरह समझता रहा है।' समधी बड़े हँसमुख थे, बोल उठे, "तब तो इनका हक़ सब से बड़ा है, और इन्हें तो कुछ लेना ही न चाहिए, ये तो हमारे दूसरे समधी हैं (सब लोग हँस पड़े)। अच्छा, बोलो क्या चाहते हो?"

दक्खू बोला, 'हुज़ूर, मैं आपकी ग़ुलामी चाहता हूँ।' समधी

साहब की समझ में बात न आई। साफ़-साफ़ बताने को कहा दक्खू बोला—

"सरकार, मैं चाहता हूँ कि बिटिया के साथ चलूँ। पंद्रह बरस से मैंने उसकी ख़िदमत की है, चाहता हूँ उसी की ख़िदमत में उमर बीते। साठ बरस का हूँ, एक रोटी खाऊँगा, आपका दरवाज़ा ताकूँगा। जो कुछ छोटा-मोटा काम-धंधा बन पड़ेगा करूँगा। इतनी ही मेरी अर्ज़ है।'

समधी साहब राज़ी हो गए।

लल्ली को माँ-बाप के बाद दक्खू ही प्यारा था। छुटपन में तो वह दक्खू को माँ-बाप से भी ज़्यादा चाहती थी। वह सोचती, जब माँ-बाप ही छूट जायँगे तो आकू का ही छूटना क्या? पर, जब उसे मालूम हुआ कि आकू साथ चलेगा तो उसे बड़ी खुशी हुई। माँ-बाप के वियोग का दुख आधा हो गया। जब बेटी ससुराल जाती है तो माँ को इस बात की बड़ी चिंता रहती है कि बेटी को न जाने किस तरह रहने को मिलेगा, न जाने कौन-कौन सी तकलीफ़ें होंगी, न जाने कैसे स्वभाव के लोग मिलेंगे। जब लल्ली की माँ को मालूम हुआ कि दक्खू लल्ली के साथ-साथ जायगा तो उनकी चिंता बहुत कम हो गई। दक्खू ने चलते समय अपने मालिक-मालकिन के सामने सिर झुकाकर माफ़ी माँगी और लल्ली के साथ चल दिया।

× × × ×

अपने घर जाते ही लल्ली घर की पुरखिन हो गई। सास थी ही नहीं, थोड़े दिन बाद ससुर का भी देहांत हो गया। लल्ली के पति जब खा-पीकर दफ़्तर चले जाते तो वह अकेली रह जाती। ऐसे समय में यदि उसका आकू भी न होता तो वह किससे बोल-बतला कर अपना दिन बिताती?

स्थान-परिवर्तन से दक्खू के जीवन में कोई अंतर न आया। वैसा ही रहन-सहन था, वैसा ही वर्ताव। हाँ, काम अवश्य अब वह कम कर सकता था। फिर भी दिन भर कुछ न कुछ करता ही रहता था। लल्ली को जिस तरह भी हो सके आराम देना उसका मुख्य ध्येय था। रसोई के ऊपर के सब काम कर देता। कहीं तरकारी काट देता, कहीं मसाला पीस देता, कहीं खाने के लिए पीढ़ा-पानी रख देता। आक़ू की इन छोटी-मोटी सेवाओं के कारण अकेली रहने पर भी लल्ली को गृहस्थी कुछ बोझ न मालूम पड़ी। जिस काम में वह आक़ू की सहायता चाहती वह देने को तैयार रहता। पर लल्ली बड़ी दयावान थी। वह कोई मिहनत-मशक्कत का काम अपने आक़ू से न कहती। वह जानती थी कि आक़ू अब बुड्ढा हो चला है और थोड़ा ही काम करने से थक जाता है। उसे मालूम था कि आक़ू कुछ पैसों की गरज़ से यहाँ नहीं आया है; उसकी मुहब्बत उसे यहाँ लाई है। अगर मेरी मुहब्बत न होती तो मेरे बाप ही के यहाँ रहता। वहाँ तो अब काम बहुत कम हो गया होगा।

पर ईश्वर ने आक़ू के योग्य काम भेज दिया। दो-चार बरस में लल्ली के लड़के-बाले हो गए। वह उनको खेलाता, उनकी चारपाई के पास बैठकर पंखा डुलाता और बच्चों को खुश करने के लिए देवों और परियों की कहानियाँ सुनाता। जब बच्चे चलने-दौड़ने योग्य हुए तो उनकी देख-रेख में रहता कि वे कहीं दूर न चले जायँ। दक्खू लड़कों के ऊपर पूरा ध्यान रखता। बच्चों से उसे शुरू से ही बड़ी मुहब्बत थी; और फिर ये बच्चे तो उसकी लल्ली के थे, इनसे तो उसकी आत्मीयता-सी थी। लाला रामनारायण के यहाँ ही दक्खू घर का-सा आदमी समझा जाता था, पर जब ये बच्चे हुए तब दक्खू पर यह बात और अच्छी तरह प्रकट हो गई। लल्ली ने अपने बच्चों को उसे 'दक्खू'

या 'आकू' कहना न सिखलाया। जब बच्चे समझने-बूझने लायक होते तब वह दक्खू को दिखला कर कहती—

"भैया ना-ना—नाना के पास जाओ।"

सब बच्चे दक्खू को नाना कहा करते थे। दक्खू सदा लल्ली को अपनी पुत्री की तरह मानता था, पर अब उसे भी ज्ञात हो गया कि लल्ली भी उसे पिता की तरह समझती है। लड़कों के दुख-बीमारियों में लल्ली सदा अपने आकू की राय लेती। आकू भी उसके हित की बातें समझाता-सुझाता और बड़े-बूढ़ों की तरह सम्मति देता।

लल्ली के पति ज़रा चिड़चिड़े स्वभाव के आदमी थे। दक्खू के काम से सदा असंतुष्ट रहते। कहते, दक्खू काम ही क्या करता है? इससे कम तनख्वाह पर कोई तंदुरुस्त आदमी नौकर रक्खा जा सकता है जो चिनगारी की तरह दौड़-दौड़कर काम करे। इससे कोई काम भी कहें तो देर में करता है। दक्खू में अब जवानी की तेज़ी और चटक न थी। लल्ली के पति जैसे नौजवान आदमी थे वैसा ही नौकर भी चाहते थे। दक्खू को वे केवल नौकर ही समझते थे। उन्हें दक्खू के लिए न इज़्ज़त थी और न मुहब्बत। जब कभी वे दक्खू को छुड़ाने की बात करते लल्ली उनका विरोध करती। वह कहती, पुराना आदमी है, ईमानदार है, दरवाज़े पर दिन-रात बैठा रहता है, घर से तिनके ऐसी चीज़ नहीं जाने पाती, लड़कों को देखता-भालता रहता है; जन्म भर तो हमारे यहाँ की ताबेदारी की, अब बुड्ढा हुआ तो कहाँ जाय? बात से जब उसके पति न मानते तो रो देती। आँसुओं की नदी पार करना सरल नहीं है। लल्ली के पति की सारी तेज़ी उसके आँसुओं में बह जाती। दक्खू के लिए तो उन्हें कोई ख्याल था नहीं, स्त्री का ख्याल करके ही दक्खू को रहने देते।

× × × ×

चार-छः साल और बीत गए। दक्खू और बेकाम हो गया। अब तो उससे कोई काम न हो सकता। वह जब लल्ली को अपने सामने कोई काम करते देखता तो रो देता। कहता भगवान् मेरी ताक़त अब कहाँ गई! इन्हीं हाथों से धुनाधुन काम करता था और अब इन्हें इधर-उधर घुमाने में भी कष्ट होता है। अब तो मौत आ जाती तभी अच्छा था।' लल्ली आक़ की दशा चिंतित चित से देखा करती। उसने आक़ से सब काम कराना बंद कर दिया। खुद ही आक़ का काम जाकर कर आती—उसकी कोठरी बुहार आती, उसकी अँगीठी में आग जला आती, उसकी चिलम भर देती। आक़ को उसके लिए लल्ली को यह सब काम करते देखकर बड़ी शर्म आती, पर अब वह अपना काम करने के लिए भी बहुत दुर्बल हो गया था। वह चाहता था कि एक दिन एकाएक मौत आ जाए, पर मौत बुलाने से तो आती है नहीं। ऐसे ही कोई भाग्यवान होता है जो चलते पौरुख मर जाता है। मरने के पहले सब को दुख-बीमारियाँ झेलनी पड़ती हैं। दक्खू था तो इतना अच्छा आदमी पर पूर्व जन्म के कर्म न जाने कैसे थे कि उसे मरते समय बड़ा कष्ट भोगना पड़ा।

वह बीमार पड़ गया। पहले बुखार आना आरंभ हुआ। साथ ही बदन में दर्द भी बढ़ा। सारा शरीर सूज आया। लल्ली के लिए काम ही काम हो गया। रोटी-पानी करती, घर का काम देखती, बाल-बच्चों को सम्हालती, और अपने आक़ की सेवा सुश्रूषा करती। उसे आक़ की सेवा में बड़ा आनंद आता। सोचती आक़ ने हम लोगों की बड़ी सेवा की है, अब ईश्वर ने यदि हमें अपना ऋण चुकाने का अवसर दिया है तो हम क्यों चूकें? अपने कामों का हर्ज करके भी वह आक़ की सेवा करती। आक़ को वह स्वप्न में भी इस बात का ध्यान न होने देती कि उसके आखिरी वक्त पर उसका कोई अपना नहीं है जो

इसकी देख-रेख करनेवाला हो। वह आक़ की सब प्रकार की सेवा बिना किसी हिचकिचाहट के करती थी।

किंतु लल्ली के पति को जाति का अभिमान था। उनके लिए दक्खू एक ओछे क़ौम का आदमी था। वे इस बात को उचित नहीं समझते थे कि एक उच्च जाति की स्त्री नीची जाति के पुरुष की सेवा करे। लल्ली को आक़ से कितनी मुहब्बत है, इस बात को वे भी जानते थे। इस कारण सीधे तो नहीं, पर घुमा फिराकर यह दिखलाने की कोशिश करते थे कि आक़ की सेवा घर के काम में बाधा डालती है। लल्ली के पति की बात कुछ हद तक ठीक भी थी, क्योंकि घर के काम की उपेक्षा करके भी उसे कभी-कभी दक्खू का काम करना पड़ता था। वह कहती, घर-गृहस्थी तो हमेशा रहेगी, पर दुख, बीमारी थोड़े दिनों के लिए है। वह बड़े प्रेम से अपने आक़ की सेवा करती। उसे आक़ की जाति का कोई ध्यान ही न था।

'जात - पाँत पूछै ना कोय ·
हर को भजै सो हर का होय'

प्रेम की कोई जाति नहीं होती। आक़ को उससे मुहब्बत थी, उसको आक़ से मुहब्बत थी। आक़ के ऊपर संकट था, वह उसके संकट में सहायक होना अपना धर्म समझती थी।

आक़ की बीमारी कम होने के बजाय बढ़ती ही गई। जैसे-जैसे उसकी बीमारी बढ़ती गई लल्ली उसके लिए और अधिक चिंतित रहने लगी, उसकी सेवाएँ और बढ़ गईं। उसे मालूम हो गया कि आक़ अब नहीं बचेगा, दो-चार दिन का मेहमान और है। उसने आक़ को, जो-जो चीज़ें उसको पसंद थीं, सब बना-बनाकर और मँगाकर खिला दीं, जिसमें उसका जी किसी चीज़ को तरसे न।

दो-एक दिन और बीते। आक़ को दस्त आने लगे। बिछौने पर

ही दस्त हो जाते। आक्रू में अब उठने की बिल्कुल ताब न थी। लल्ली ही उसके बिछौनों को धोती, पछाड़ती। लोग अपने सगे-संबंधियों का भी ऐसा काम करने से घृणा करते हैं, पर लल्ली यह सब बड़े हर्षित चित से करती। लल्ली के पति के लिए तो अब बात असह्य हो गई। उन्होंने कहा कि, 'इसकी जाति-बिरादरी के लोगों से कहो कि इसे यहाँ से ले जायँ, इसके रिश्ते-नाते के सैकड़ों आदमी होंगे। हमारा काम यह नहीं है कि नौकरों का पाख़ाना उठाते फिरें।' लल्ली ने अपने पति को बहुत समझाया-बुझाया; कहा, 'आक्रू अब दो ही चार दिन चलेंगे। मैं चाहती हूँ कि उन्हें मरते समय कष्ट न हो। दूसरा कोई इन्हें इस मुहब्बत से न रक्खेगा। माना कि आक्रू के पास रुपया पैसा है और रुपया देकर इनकी सेवा कराई जा सकती है, पर यह मतलब की सेवा होगी। सेवा जब तक निःस्वार्थ नहीं होती ठीक नहीं होती। इससे न तो सेवा करनेवाला आनंद पाता है और न सेवा करानेवाला। क्यों अब अंतिम समय में हम ऐसा काम करें कि ज़िंदगी भर पछतावा बना रहे। ईश्वर क्या कहेगा? दीन-दुखियों की सेवा से बड़ा पुण्य होता है, बड़ा सबाब मिलता है। किसी का मैला धो देने से कुछ हाथ नहीं कट जाते।' लल्ली के पति ने उसकी एक न सुनी। उसके एक रिश्तेदार को ढूँढ लाए। कुछ रुपए मिलने की आशा ने जल्दी से रिश्तेदार बना दिए। वह दक्खू को अपने घर लिवा जाने को राज़ी हो गया। एक डोली उसे लिवा जाने को ले आया। डोली कहार देखकर लल्ली बहुत घबराई। उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे यम के दूत उसके आक्रू को जीते ही ले भागने को आए हों। सोचने लगी, क्या सचमुच उसके आक्रू ऐसी दशा में उसकी आँखों से दूर चले जायँगे, और उसे यह भी पता न लगेगा कि वे किस आराम-तकलीफ़ से मरे? सेवा से ऊबकर कहीं रिश्तेदार कुछ अनर्थ न कर बैठे! इसे सोचकर वह काँप उठी। उसने कहा, ज़रा आक्रू से तो पूछें कि वह क्या चाहता है। आक्रू को अपने

तन-वदन की सुध-बुध तो थी नहीं, पर जब लल्ली ने जाकर उसे पुकारा तब उसने आँखें खोल दीं। वह बोली,

"आकू, तुम्हारी फुफेरी बहिन के देवर के साढ़ू तुम्हें अपने घर लिवा जाना चाहते हैं। तुम क्या चाहते हो?"

आकू ने आँखों में आँसू भरकर धीमे से कहा,

"तुम्हें देखते मरूँ......"

लल्ली आकू को यदि वह जाना भी चाहता तो न जाने देती, पर अब तो वह अपने विचार में और दृढ़ हो गई। उसने रिश्तेदार को लौटा दिया, डोली भी लौट गई। लल्ली को कुछ धैर्य हुआ। पति से ज़रा दृढ़ता से बोली, 'जब तक आकू स्वयं न जाना चाहे मैं उन्हें अपने दरवाज़े से न हटाऊँगी। उसने जब उमर भर हमारा दरवाज़ा नहीं छोड़ा तब यह उचित नहीं है कि हम उसे अपने दरवाज़े से ढकेलकर हटा दें।' पति महोदय सिटपिटाकर रह गए। स्त्री जब तक अपना अधिकार नहीं जमाती तभी तक कमज़ोर रहती है।

दूसरे दिन आकू की दशा और भी खराब हो गई। आकू चारपाई पर लेटा था। उसकी सांस ज़ोरों से चल रही थी लल्ली सिरहाने पर बैठी थी। उसने आकू से पूछा,

"आकू! तुम किसी से कुछ कहना-सुनना चाहते हो?"

आकू ने रुक-रुक कर धीमे-धीमे कहना शुरू किया,

"हाँ—एक बात—संदूक में—आठ सौ रुपए—हैं। वह तुम—ले लेना—बेटी समझ कर देता—हूँ। तुम्हारा बड़ा—ऋणी हूँ—कुछ हल्का हो—जाऊँ—गा।"

"तुम्हारी कृपा से मेरे पास बहुत है। तुम्हारे बाद उसी धन से मैं

तुम्हारी क्रिया-कर्म करा दूँगी, दीन-दुखियों को खिला दूँगी, जिसमें तुम्हारा आगे का भी जन्म बने। मुझे सिर्फ़ तुम्हारी दुआ चाहिए।"

"उसके लिए—सौ रुपए—अलग—हैं। वह—तुम—ले लेना। दुआ—देता हूँ—सुखी—रहो—तुम्हारे बच्चे—सुखी—रहें—। मैं—तुम्हारा बड़ा ऋणी हूँ......"

"आक्रू! जन्म भर तुम ने हमारी सेवा की; अपनी ज़िंदगी हम लोगों के लिए दे दी। हम तुम्हारे ऋणी हैं।"

"बेटी लल्ली—तुम मुझसे—उऋण हो—गई हो—पर—मैं नहीं। तुम्हारा—बड़ा ऋणी—हूँ..."

लल्ली ने 'नहीं' 'नहीं' करके बात टाल दी। दक्खू में अधिक बोलने की शक्ति न थी। वह चुप हो गया।

× × × ×

आठ दिन से दक्खू की साँस ऊपर नीचे चल रही है, पर उसका प्राण नहीं निकलता। लल्ली से उसका यह संकट देखा नहीं जाता। चाहती है, कि उसे अब इस जीर्ण-शीर्ण शरीर से छुटकारा मिल जाय। दुआ करती है, कि हे भगवान् अब इनका संकट काटो, पर मालूम होता है ईश्वर उसकी सुनते ही नहीं।

आठवें दिन लल्ली ने उद्विग्न होकर पूछा,

"आक्रू! तुम्हारा जी किस चीज़ में अटका है? अब हम लोगों का छोह छोड़ो, मोह-माया से मन हटाओ, राम-राम करो।"

दक्खू हिम्मत करके बोला। उसके शब्द सायँ-सायँ करके निकल रहे थे।

"तु—म्हा—रा—ब—ड़ा—ऋ—णी। रु—प—ए—दे—ता—हूँ—ले—लो। तो—ह—ल—के—दिल मर—जा—ऊँ......"

दक्खू के शब्दों में इतनी आर्तता थी कि लल्ली अब उसका विरोध न कर सकती थी। वह बोली। आक्रू अपनी बड़ी-बड़ी आँखें फैलाकर उसकी ओर देखने लगा।

"अच्छा जो रुपया तुम मुझे दे रहे हो वह मैं ले लूँगी।"

इतना सुनते ही दक्खू की आँखें परम संतोष से बंद हो गईं। आँखों के बंद होते ही उसकी साँस एकदम से धीमी पड़ गई। लल्ली ने झट नाड़ी पकड़ी, छूट रही थी। लल्ली ने तुलसी, सोना और गंगा-जल आक्रू के मुँह में डाल दिया। आक्रू की आँखें पलट गईं, मुँह खुल गया, प्राण निकल गए, लल्ली चिल्ला पड़ी—

'आक्रू अब मैं तुमसे उऋण हो गई। यदि मैं तुम्हारी अंतिम सेवा न कर पाती तो जन्म भर तुम्हारे ऋण से दबी रहती। भगवान तुम्हारी आत्मा को शांति दें।'

दोनों परस्पर ऋणी थे, दोनों एक दूसरे से उऋण हो गए।

स्वार्थ*

(१)

सिपाही मोहनसिंह के हृदय पर वासना ने विजय पाई। संध्या का समय था, बरसात के दिन। उसने अपनी वर्दी-पेटी कसी, अपनी कोठरी के एक ताक़ पर रक्खे हुए टूटे शीशे के टुकड़े में अपना मुँह देखा, मूँछें ऊपर को चढ़ाई और ननकू तमोली की दूकान की तरफ़ पैर बढ़ाये। ननकू की दूकान थाने से थोड़ी ही दूर पर थी। रास्ते में कुछ ऐसी मौज में आ गया कि कजली गुनगुनाने लगा—'सजनी पिया नहीं घर आए बरसन लागे पनियाँ ना' .....। पच्चीस-छब्बीस बरस की उसकी उम्र थी, कसरती शरीर था, अंग-अंग में मस्ती थी, झूमता चला आता था। एकाएक उसने गाना बंद कर दिया। उसकी आँखें ननकू की दूकान पर पड़ चुकी थीं। ननकू की लड़की मनकी दूकान पर बैठी थी।

दूकान के पास पहुँचकर मोहनसिंह ने खाँसा। मनकी की आँखें आप ही आप उधर फिर गईं। सिपाही को देखकर उसने आँखें फेर लीं। सिपाही के खाँसने का इच्छित प्रभाव हुआ। इसीलिए उसने खाँसा था कि जिसमें एक बार मनकी उसकी तरफ़ देख ले। अब तक सिपाही पास आ गया था। बोला, 'दो बीड़े पान तो लगा देना।'

मनकी ने फुर्ती के साथ उसे पान बनाकर दिया। जब तक वह पान बनाती रही मोहनसिंह उसी को ओर देखता रहा। पान लेकर

---

* माया, सितम्बर १९३२

उसने अपने मुँह में रक्खा। दूकान से लटकते हुए कपड़े में हाथ पोंछा। फिर बोला, 'ज़रा चूना और देना', फिर कत्था और माँगा, फिर सुपारी कम मालूम हुई, फिर थोड़ी तंबाकू की ज़रूरत हुई। मोहन-सिंह को उन सब चीजों की आवश्यकता कुछ भी न थी, पर मनकी की दूकान पर खड़े रहने और उससे दो चार बातें कह देने का कोई बहाना तो चाहिए ही। उसने अपनी जेब में हाथ डाला और एक अठन्नी निकाल कर मनकी के हाथ पर रख दिया और बिना बाक़ी पैसा माँगे हुए चल दिया। मनकी ने सोचा सिपाही ने पैसे के धोखे अठन्नी दे दी है। उसने जल्दी से उसे अपने गल्ले में डाल दिया—ख़ूब ठगा। मोहनसिंह ने सोचा मछली ने चारा पकड़ लिया है। उसने अपने को शाबाशी दी—ख़ूब फाँसा।

दूसरे दिन फिर उसी ताव-भाव से मोहनसिंह मनकी की दूकान के सामने दिखाई दिया। आज फिर उसने पान लिया और फिर अठन्नी निकालकर उसकी हथेली पर रख दी। आज तो अठन्नी देखकर मनकी चौंकी। मोहनसिंह जाने ही वाला था कि उसने पुकारा "बाक़ी पैसा तो लेते जाओ, कल भी अपना बाक़ी पैसा छोड़ गए थे।" मोहनसिंह ने एक अर्थपूर्ण रीति से हँसकर अपना मुँह फेर लिया। पर इतना उसने भी देख लिया कि मनकी भी मुसकरा रही है। मोहनसिंह ने जाते हुए सोचा—आधी सफलता मिल गई।

तीसरे दिन तीसरी अठन्नी मनकी की हथेली पर थी।

"मैं न लूँगी।"

"चुपचाप रख लो, कोई आ जाएगा तो मुफ़्त में......।"

तीन दिनों में मोहनसिंह ने मनकी से एक गुप्त संबंध स्थापित कर लिया।

(२)

मनकी जब छोटी थी तभी उसकी माँ का देहांत हो गया था। उसका पिता ननकू उसके थोड़े ही दिन बाद अंधा हो गया। इन दो व्यक्तियों के अतिरिक्त ननकू के परिवार में कोई तीसरा न था। पहले तो अपनी दूकान पर ननकू ही बैठा करता था पर जब आँखों से बिल-कुल लाचार हो गया तब मनकी को लिवा लाने लगा। सुबह होती तो वह मनकी का कंधा पकड़ता और दूकान को चला जाता। मनकी दूकान पर बैठकर पान बेचती और बूढ़ा नीचे बैठकर भजन गाता और बरसात के दिन में आल्हा सुनाता। उसे पूरा आल्हा ज़बानी याद था। दोपहर को दूकान बंद कराके मनकी को घर ले जाता। मनकी खाना बनाती, दोनों खाते और फिर लगभग तीन चार बजे कि दूकान आ जाते। रात को दस-ग्यारह बजे कहीं जाके लौटना होता। लगभग पंद्रह वर्ष से ननकू और मनकी का कार्यक्रम इसी भाँति चल रहा था।

मनकी की अवस्था इस समय बाईस वर्ष के लगभग थी। सात-आठ वर्ष की अवस्था से उसे दूकान पर जाना पड़ता था। उसने लड़कपन का सुख कुछ भी न जाना। जब बच्चों में दौड़कर चलने की स्वाभाविक इच्छा होती है, उसे अपने पिता के आगे धीमे-धीमे चलना पड़ता था। वह देखती थी कि उसकी उम्र की सहेलियाँ खेल रही हैं, दौड़ रही हैं, झूल रही हैं—पर उसके लिए तीन—केवल तीन शुष्क काम थे—दूकान पर मूर्ति की तरह बैठना, रास्ते में अपने पिता को धीरे-धीरे लेकर दूकान से घर आना और घर से दूकान जाना और खाना बनाना।

मनकी की अवस्था बाईस वर्ष की थी पर अभी तक उसका विवाह नहीं हुआ था। ननकू तो जैसे उसका विवाह करना भूल गया था

या जान-बूझकर भुला दिया था। आठ बरस की भोली-भाली जिस मनकी को देखकर उसकी आँखें सदा के लिए बंद हो गई थीं, उसे संभवतः वह अब भी उतनी ही बड़ी समझता था। पर मनकी अब पूर्ण युवती थी, यौवन उसके अंग-अंग से फूटा पड़ता था। मुहल्ले वाले जब कहते 'सूरदास बेटी का ब्याह कर डालो' तो कहता 'जब समय आएगा तब कोई रोक न सकेगा, अभी उसकी भावी नहीं है।' कोई ज़्यादा ज़ोर देता तो उसे गालियाँ सुनाता, "खिलाता-पिलाता तो मैं हूँ, इन मुहल्ले वालों को न जाने क्यों मेरी लड़की अभारू हो रही है।"

पर जवान लड़की देखी नहीं जाती। जो ही उसे देखता सूरदास से उसके विषय में कहता। लड़की का ब्याह न करने में सूरदास का एक स्वार्थ था। विवाहित होकर लड़की अपने घर-द्वार की होगी। कौन उसे दूकान तक ले जाएगा? कौन दूकान पर बैठकर पान बेचेगा? कौन दो रोटी बनाकर खिलाएगा?

(३)

बाल्यावस्था का सरल सुकुमार चांचल्य मींजा और मरोड़ा जा सकता है, पर यौवन का प्रबल प्रमत्त उन्माद रोका नहीं जा सकता। मनकी की आँखें किसी को ढूँढती थीं। वह उसे मोहनसिंह के रूप में मिला। वह सिपाही के जाल में आ गिरी पर उसे उसमें गिरने का दुःख नहीं था। वह खुश होकर गिरी—मुसकराकर गिरी, हँसकर गिरी।

मोहनसिंह को अब पान पाने के लिए पैसे नहीं खर्च करने पड़ते। अब वे उसे मुफ़्त में मिल जाते हैं। बढ़िया से बढ़िया पान पिपरमेंट, इलायची और सुगंध के साथ उसके लिए तैयार रहते हैं। दूकान के

सामने एक स्टूल पड़ा रहता है। मोहनसिंह अब आता है और घंटों इसी पर बैठकर मनकी के भजन सुनता है, भजन क्या सुनता है, मनकी की रूप-माधुरी का स्वाद लेता है।

उसने मनकी के घर को भी देख लिया है। अपनी ड्यूटी भी सामने के ही चौरास्ते पर करा ली है। खड़ा रहता है और आँखें मनकी की ओर ही लगी रहती हैं। इसपर भी उसे संतोष नहीं। रात की ड्यूटी उसकी कहीं भी हो वह एक चक्कर मनकी के घर ज़रूर जाता है और जब बुड्ढा खर्राटे लेता रहता है तब इन गुप्त प्रेमियों की दो-चार बातें हो ही जाती हैं।

एक दिन ऐसा हुआ कि जब मोहनसिंह मनकी की दूकान पर आया उसका चेहरा उदास था। मनकी ने उदासी का कारण पूछा। बोला, 'बदली हो गई।'

'कहाँ को?'

'बनारस को।'

'कब जाओगे?'

'आज रात को।'

'मुझे छोड़ जाओगे?'

'चलोगी मेरे साथ?'

मनकी ने सिर हिला दिया। सिपाही का चेहरा खिल उठा।

मनकी ने तबियत खराब होने का बहाना किया। दूकान जल्दी बंद कर दी। गाड़ी प्रयाग स्टेशन से साढ़े बारह बजे छूटने वाली थी, मनकी अपने दादा के सोने का इंतजार कर रही थी, पर बुड्ढा दस-ग्यारह बजे सोने का आदी था। वृद्ध का शासन, कठोरता, अधिकार

की बेड़ियों से छूटकर यौवन, उच्छृङ्खलता, मधुरता और प्यार की गोद में जाने का विचार कितना सुखकर, कितना सुकुमार और कितना शरीर को पुलकित करने वाला था। एक जीवन का अंत और दूसरे का आरंभ कितना निकट था, फिर भी कितना दूर था। दादा को कहीं नींद न आए? कहीं जाते हुए ज़रा सी खट-खुट हो जाए? कहीं सड़क पर कोई जान-पहचान का न मिल जाए? कहीं देर हो जाए और वह मुझे वहाँ न मिले? जो आजीवन कहीं अकेले न आई-गई थी उसके लिए आधी रात को घर से निकलने का विचार हिम्मत का काम था। उसका हृदय धक-धक करके एक-एक क्षण गिन रहा था। टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन—दस।

टन—साढ़े दस

टन-टन-टन-टन-टन-टन-टन टन-टन-टन—ग्यारह

'दादा'—मनकी ने धीमे से पुकारा।

कुछ उत्तर न मिला। मनकी घर के बाहर हुई।

थोड़ी देर के बाद उसके पिता ने पुकारा, 'मनकी तबियत कैसी है।' कुछ उत्तर न पाकर बोला, 'सो गई' और सो गया।

(४)

निश्चित स्थान पर मोहनसिंह खड़ा था। दोनों मिले। मनकी बोली, "मुझे ऐसा लग रहा है जैसे दादा मेरे कंधे पर हाथ रक्खे पीछे आ रहे हों।"

"हुश पागल, जब तक बुड्ढ़ऊ जागेंगे हम लोग बनारस पहुँचेंगे।"

"दादा ने रपट लिखाई तो?"

"पता कहाँ पाएँगे।"

"जो हुलिया जारी कराएँ ?"

"पा चुके ।"

"आख़िर मुझे कहाँ छिपाकर रक्खोगे ?"

"यहाँ"—सिपाही ने अपना दाहिना हाथ अपनी छाती पर रख कर कहा ।

बनारस में मोहनसिंह ने उसके लिए एक कोठरी किराए पर ले दी और उसे हिदायत करदी कि वह उसके बाहर न निकले । मोहनसिंह रोज़ अख़बार देखता कि कहीं किसी स्त्री के भगाए जाने की ख़बर तो नहीं छपी है । उसे इस प्रकार की कोई ख़बर न मिली । वह रोज़ दो-चार घंटे के लिए थाने से उस मकान को जाता था जहाँ मनकी ठहरी थी । पहले सप्ताह में मनकी को अपने दादा की याद उसके भय के कारण बनी रही । जब मोहनसिंह उसके पास जाता यही सवाल करती, "दादा ने रपट लिखाई तो क्या होगा ?" "मैं पकड़ गई तो क्या होगा ?" "दादा ने हुलिया जारी कराई तो क्या होगा ?" जब सात दिन बीत गए तब उसे ध्यान हुआ कि जिस काम को उसने बहुत बड़ा समझ लिया था वह तो शायद बहुत छोटा काम है—इतना छोटा कि संसार को उसकी फ़िक्र की ज़रूरत ही नहीं महसूस होती । कोई लड़की अपने पिता को छोड़कर भग गई, बला से भग गई ।

एक हफ़्ते से अधिक बीतने पर भी जब कुछ न हुआ तो मनकी का खटका जाता रहा पर पिता की स्मृति बनी रही । उनके भय के रूप ने उनके प्रति स्नेह और दया का रूप ग्रहण किया । वह सोचने लगी, 'मैंने अपने पिता के साथ बड़ा विश्वासघात किया । सबेरे जब वह उठे होंगे तो कैसे उन्होंने चिल्ला-चिल्ला कर उसे पुकारा होगा । पर, जब कोई न बोला होगा तो क्या सोचा होगा । मुझे घर भर में टटोलते फिरे होंगे । पड़ोसियों ने जब उन्हें घेर लिया होगा तो कैसे दहाड़ मारकर

रोए होंगे। उन्हें किसने सबेरे पानी दिया होगा? कौन उन्हें पकड़वा कर दूकान ले गया होगा? किसने उनका खाना बनाया होगा? दूकान न गए होंगे तो खाने-पीने को पैसे कहाँ से मिले होंगे? मुझे ऐसे अपाहिज पिता को छोड़कर भागना अनुचित था, अन्याय था, पाप था! हाय! सिपाही ने मेरे ऊपर कौन सा जादू कर दिया कि चलते समय ज़रा भी मेरा ध्यान इन सब बातों की ओर न गया? यह सोचते-सोचते उसका जी भर आया और वह खूब रोई। कई दिन तक उदास बनी रही। सिपाही इसका कारण पूछता पर वह उसके भय के कारण कुछ न कहती।

एक दिन मोहनसिंह बहुत व्यग्र हुआ। वह मनकी को लाया था उसकी यौवन-छवि, उसके स्वतंत्र-हास, उसके अदम्य उल्लास की उपासना करने के लिए, उसकी रोती सूरत देखने के लिए नहीं। उसके बहुत ज़ोर देकर पूछने पर मनकी कहने लगी, "मैं अपने अंधे दादा की आँख की रोशनी थी, हाथ की लकड़ी। मैं भाग आई, दादा को कितना कष्ट होगा! जो मैं लौट जाऊं......?"

"तुम मेरी आँख की पुतली हो, हाथ की ताक़त। तुम चली जाओगी तो मुझे किनता कष्ट होगा! जो मैं पागल हो जाऊँ......?"

"तुम्हारे अंदर दया नहीं है?"

"तुम्हारे अंदर प्रेम नहीं है?"

"है, पर वह परोपकार के लिए दबाया जा सकता है।"

"कब तक?—जीवन का नियम परोपकार नहीं स्वार्थ-साधन है। परोपकार को जीवन का नियम बनाओ तो आज, इसी समय, हमारी एक पाई की टूटी हाँडी से लेकर लाख रुपए की जान तक की दूसरों को आवश्यकता है। तेरे दादा की रोने की आवाज़ मेरे कानों

में आ रही है, पर वह तेरे लिए नहीं रो रहा है, वह रो रहा है तेरी सहायता के लिए, तेरे खाना बनाने के लिए, तेरे पैसा पैदा करने के लिए—अपने आराम के लिए—अपने सुख के लिए, अपने जीने के लिए। तू समझती है वह मर जाएगा। जो अपनी कन्या के यौवन-सुख को कुचलकर भी अपने जीने की साध बुझाता था वह महान स्वार्थी था। इतना बड़ा स्वार्थी इतनी आसानी से नहीं मरेगा। स्वार्थी नहीं मरता, मरता है परोपकारी। हाँ तू यदि उसके पास रहती तो तू मर जाती। तूने अब स्वार्थ-साधन आरंभ किया है। अब तू जिएगी। जीने के लिए स्वार्थी होना आवश्यक है।"

मोहनसिंह ने उसके दादा का जो रूप उसके सामने खड़ा किया था उसने उसके हृदय में पहली बार उसके प्रति घृणा का बीज बोया। उसने दबनी ज़बान से कहा, "हाँ, स्वार्थी तो दादा थे।"

'स्वार्थी थे नहीं, हैं', और कितने बड़े हैं इसे मैं तुम्हें छः महीने बाद दिखाऊँगा। जीवन की जितनी गंदगी, जितना कूड़ा-करकट पुलिस की आँखों के सामने आता है उतना किसी की नहीं।"

प्रियतम के साथ रंगरेलियों में छः महीने का दिन बीतते क्या लगता है। इसमें फूल में काँटे की तरह कसक उठने वाली बात यदि थी तो वह थी उसके दादा की स्मृति—वे हैं, कि मर गए? या दुख से जी रहे हैं!

मनकी मोहनसिंह के साथ प्रयाग आई। परदे के इक्के में बैठकर अपनी दूकान वाली सड़क पर आई। दूकान पर एक स्त्री बैठी थी। ननकू नीचे बैठा फाग उड़ा रहा था। फागुन का महीना था। उसके मन में शंका हुई कि यह स्त्री कौन है? पर इस समय कैसे जान सकती। मोहनसिंह ने पता लगाकर उसे बताया कि ननकू ने एक औरत रख ली है।

सिपाही बोला, 'देखा अपने दादा का सच्चा स्वरूप ?'

मनकी ने कहा, 'हाँ देखा, तुम्हारी बात ठीक निकली।'

सिपाही फिर बोला, 'तुम्हारे दादा का ही नहीं, संसार का यही रूप है।'

चुन्नी-मुन्नी*

मुन्नी और चुन्नी में लाग-डाट रहती है। मुन्नी ६ वर्ष की है, चुन्नी पाँच की। दोनों सगी बहनें हैं। जैसी धोती मुन्नी को आए, वैसी ही चुन्नी को। जैसा गहना मुन्नी को बने, वैसा ही चुन्नी को। मुन्नी 'ब' में पढ़ती थी, चुन्नी 'अ' में। मुन्नी पास हो गई, चुन्नी फ़ेल। मुन्नी ने माना था कि मैं पास हो जाऊँगी तो महावीर स्वामी को मिठाई चढ़ाऊँगी। माँ ने उसके लिए मिठाई मँगा दी। चुन्नी ने उदास होकर धीमे से अपनी माँ से पूछा, अम्मा क्या जो फ़ेल हो जाता है वह मिठाई नहीं चढ़ाता?

इस भोले प्रश्न से माता का हृदय गद्गद् हो उठा। 'चढ़ाता क्यों नहीं बेटी' माँ ने यह कहकर उसे अपने हृदय से लगा लिया। माता ने चुन्नी के चढ़ाने के लिए भी मिठाई मँगा दी।

जिस समय वह मिठाई चढ़ा रही थी उस समय उसके मुँह पर संतोष के चिह्न थे, मुन्नी के मुखपर ईर्ष्या के, माता के मुख पर विनोद के और देवता के मुखपर झेंप के!

---

* सरस्वती, मई, १९३२

बच्चन की

अन्य प्रकाशित रचनाओं का विवरण

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

हलाहल

(कवि की नवीनतम रचना)

यह रचना बच्चन ने सन् १९४५ में संपूर्ण की, परंतु इसका आरंभ इससे दस वर्ष पूर्व हुआ था। सन् १९३६ के फ़रवरी मास की सरस्वती में 'हलाहल' के पंद्रह पद निम्नलिखित टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुए थे।

'मधुशाला के समान मैं हलाहल पर भी चतुष्पदियों में एक तुक-बंदी लिख रहा हूँ। पूर्ण रचना में संभवतः सौ-सवासौ से ऊपर पद होंगे। अब तक रचे हुए पदों में से कुछ चुनकर सरस्वती के लिए भेज रहा हूँ। यहाँ लिए गए सभी पद अक्रम हैं। पूर्ण रचना पुस्तक रूप में यथा समय प्रकाशित की जायगी।'

और इसके पुस्तक रूप में प्रकाशित होने की नौबत आई है १९४६ में। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह रचना दश वर्ष तक कवि का मानस-मंथन करती रही है! स्वाभाविक ही इसमें उनकी इस लंबी अवधि की भावनाएँ, कल्पनाएँ, आशाएँ, शंकाएँ एवं मान्यताएँ प्रतिबिंबित हुई हैं।

हलाहल में १४८ चतुष्पदियाँ हैं। पर इसको केवल मुक्तकों का संग्रह समझना भूल होगी। और यह बात मधुशाला के संबंध में भी उतनी ही सच है जितनी हलाहल के संबंध में। प्रत्येक पद अपने में संपूर्ण होते हुए भी रचना के उत्तरोत्तर विकास में सहयोग देता है। रचना का मनोरंजक इतिहास देकर तथा अपने एक प्रतिभाशाली मित्र से 'आमंत्रण' लिखाकर कवि ने इसे और भी रोचक बना दिया है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लें।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

बंगाल का काल

(कवि का नवीनतम प्रकाशन)

सन १९४३ का दुर्भिक्ष जिसमें बंगाल के लगभग आधे करोड़ मनुष्य भूख की विकराल ज्वाला में स्वाहा हो गए, शासकों के निर्दय अत्याचार, पूँजीपतियों की निर्मम स्वार्थपरता और देशवासियों की दयनीय नपुंसकता का प्रतीक बनकर आनेवाली न जाने कितनी सदियों के ऊपर अपनी अमंगल छाया डालता रहेगा।

यह रचना इसी भीषण अकाल के प्रति कवि की प्रतिक्रिया है। यह १९४३ में ही लिखी गई थी, परंतु समय की दमन पूर्ण परिस्थिति में इसे प्रकाशित करना असंभव था। तब इसकी केवल सौ पंक्तियाँ श्रीमती महादेवी वर्मा के 'बंग दर्शन' में छापी जा सकी थीं। अब संपूर्ण रचना जिसमें एक हज़ार से अधिक पंक्तियाँ हैं पुस्तक रूप में प्रकाशित हो गई है।

बच्चन की रचनाओं में 'बंगाल का काल' एक नए प्रकार की चीज़ है। इसमें पहली बार आंतरिक अनुभूतियों के कवि ने अपनी आँख बाहर की ओर फेरी है। यहाँ भी उनकी दृष्टि में मौलिकता है। बंग दुर्भिक्ष पर बहुत कुछ लिखा गया है, परंतु प्रस्तुत रचना में उसके प्रति कवि का अपना मनोवेग है, अपना दृष्टिकोण है और अपने विचार हैं। इस दृष्टिकोण की सार्थकता इतने से ही सिद्ध है कि जेलों से निकलकर हमारे बड़े-बड़े नेता भी उन्हीं स्वरों में बोले हैं जिसमें बच्चन की वाणी आज से तीन वर्ष पूर्व मुखरित हो चुकी थी।

इसमें आप बच्चन के कवि और मानव, दोनों का एक नया ही रूप देखेंगे।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

सतरंगिनी

(दूसरा संस्करण)

यह कवि की १९४२-४४ में लिखित सौंदर्य, प्रेम और यौवन के ५० गीतों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम अप्रैल, १९४५ में प्रकाशित हुआ था। सौंदर्य, प्रेम और यौवन कवि के लिए नए विषय नहीं हैं। मधुशाला और मधुबाला की पंक्ति-पंक्ति में सौंदर्य की दुर्दम आसक्ति है, प्रेम की अमिट प्यास है और है यौवन का अनियंत्रित उन्माद। पर निशानिमंत्रण के अंधकार और एकांत संगीत के एकाकीपन से निकल-कर जब कवि ने पुनः उन विषयों पर लेखनी उठाई है तब उसने केवल एक पिछले अनुभव को नहीं दुहराया। सौंदर्य पर मुग्ध होनेवाली आँखों ने जीवन की बहुत कुछ असुंदरता भी देखी है, प्रेम के प्यासे हृदय ने उपेक्षा और घृणा का भी अनुभव किया है और उषा की मुसकान में नहाती हुई काया कितनी बार तिमिर के सागर में डूब-उतरा चुकी है।

मधुशाला और मधुबाला में जो सौंदर्य, प्रेम और यौवन है उसके आगे प्रश्न वाचक चिह्न लगा हुआ है। सतरंगिनी में उनके प्रति अडिग विश्वास है, वे अब केवल व्यक्ति की प्रेरणा मात्र न होकर विश्व जीवन की वह धुरी हैं जिनपर वह युग-युग से घूमता आया है और घूमता जायगा।

बच्चन ने जीवन की मान्यताओं को सहज में ही कभी स्वीकार नहीं किया। उनका यह परिणाम भी स्वानुभव का मूल्य देकर संचित किया गया है, पुस्तक पढ़कर देखिए।

नया संस्करण छपकर तैयार हो गया है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लीजिए।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रा० १२

आकुल अंतर

(तीसरा संस्करण)

यह कवि की १९४०-४२ में लिखित ७१ गीतों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम जनवरी '४३ में प्रकाशित हुआ था। कवि को अपनी पिछली रचना 'एकांत संगीत' लिखते समय आभास हुआ था कि उसकी कई कविताएँ आंतरिक अशांति को व्यक्त न करके बाह्य विह्वलता को मुखरित करती हैं। इस कारण भविष्य में उन्होंने अपने गीतों को 'आकुल अंतर' और 'विकल विश्व' दो मालाओं में रखकर आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार की विक्षुब्धता को अलग अलग वाणी देने का निश्चय किया था। दोनों मालाओं के गीत इन तीन वर्षों में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। इस पुस्तक में कवि ने 'आकुल अंतर' माला के अंतर्गत लिखित ७१ गीतों को संगृहीत किया है।

'एकांत संगीत' से 'आकुल अंतर' में कितना परिवर्तन आया है, यह केवल इस बात से प्रकट हो जायगा कि 'एकांत संगीत' का अंतिम गीत था 'कितना अकेला आज मैं' और 'आकुल अंतर' का अंतिम गीत है 'तू एकाकी तो गुनहगार'। भावों की किन-किन अवस्थाओं से यह परिवर्तन आया है, इसे देखना हो तो 'आकुल अंतर' पढ़िए। 'निशा निमंत्रण' के अंधकार पूर्ण और 'एकांत संगीत' के विषाद मय वातावरण के साथ संघर्ष करके यहाँ पर कवि आपको जग और जीवन के साथ एक बार फिर से नया संबंध स्थापित करता हुआ दिखाई पड़ेगा।

छंद और तुक के बंधनों से मुक्त केवल लय के आधार पर लिखे गए कुछ गीत हिंदी के लिए सर्वथा नवीन और सफल प्रयोग हैं।

नया संस्करण तैयार है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लें।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

एकांत संगीत

(चौथा संस्करण)

यह कवि की १९३८-३९ में लिखित एक सौ गीतों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम नवंबर, १९३९ में प्रकाशित हुआ था। देखने में यह गीत 'निशा निमंत्रण' के गीतों की शैली में प्रतीत होते हैं, परंतु पद, पंक्ति, तुक, मात्रा आदि में अनेक स्थानों पर स्वतंत्रता लेकर कवि ने इनकी एकरूपता में भी विभिन्नता उत्पन्न की है। विचारों की एकता, गठन और अपने आप में पूर्णता जो 'निशा निमंत्रण' के गीतों की विशेषता थी उसकी यहाँ भी पूरी तरह रक्षा की गई है।

कवि ने जिस एकाकीपन का अनुभव 'निशा निमंत्रण' में मुखरित किया था उसकी यहाँ चरम सीमा पहुँच गई है। 'कल्पित साथी' भी साथ में नहीं है। कवि के हृदय में वेदना इतनी घनीभूत हो गई है कि उसे बताने के लिए वातावरण की सहायता की भी आवश्यकता नहीं होती। गीतों का क्रम रचना-क्रम के अनुसार होने से कवि की भावनाओं का जैसा स्वाभाविक चित्र यहाँ आपको मिलेगा वैसा और किसी कृति में नहीं।

कवि ने जीवन के एकांत में क्या देखा, क्या अनुभव किया, क्या सोचा, यदि इसे जानना चाहते हैं तो एकांत संगीत को लेकर एकांत में बैठ जाइए। जीवन में एक स्थान पर प्रत्येक व्यक्ति एकाकी है। इन गीतों को पढ़ते हुए आप यही अनुभव करेंगे कि जैसे आपके ही जीवन के एकाकी क्षणों के चिंतन और मनन को कवि ने वाणी प्रदान कर दी है। बच्चन की यह विशेषता है कि वह व्यक्तिगत अनुभवों को कला के धरातल पर लाकर सार्वजनीन बना देते हैं।

नया संस्करण तैयार है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लें।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

निशा निमंत्रण

(पाँचवाँ संस्करण)

यह कवि की १९३७-३८ में लिखित एक कहानी और एक सौ गीतों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम नवंबर, १९३८ में प्रकाशित हुआ था। 'निशा निमंत्रण' के गीतों से बच्चन की कविता का एक नया युग आरंभ होता है। १३-१३ पंक्तियों में लिखे गए ये गीत विचारों की एकता, गठन और अपनी संपूर्णता में अंग्रेज़ी के सॉनेट्स की समता करते हैं। गीतों को लिखने के लिए यह ढाँचा इतना सफल सिद्ध हुआ है कि हिंदी के अनेक कवि आज इसका अनुकरण कर रहे हैं।

'निशा निमंत्रण' के गीत सायंकाल से आरंभ होकर प्रातः-काल समाप्त होते हैं। रात्रि के अंधकारपूर्ण वातावरण से अपनी अनुभूतियों को रंजित कर बच्चन ने गीतों की जो शृंखला तैयार की है वह आधुनिक हिंदी कविता के लिए सर्वथा मौलिक वस्तु है। गीत एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि यह सौ गीतों का संग्रह न होकर सौ गीतों का एक महागीत है, शत दलों का एक शतदल है। प्रत्येक गीत अपने स्थान पर पूर्ण होते हुए रचना के क्रमिक विकास में भी सहायक हैं।

एक ओर तो इनमें प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण है दूसरी ओर हर प्राकृतिक दृश्य के साथ कवि की भावनाओं का ऐसा संबंध दिखाया गया है मानो कवि की भावनाएँ स्वयं उन प्राकृतिक दृश्यों में स्थूल रूप पा गई हैं। सूर्यास्त के साथ कवि की आशाएँ टूट गई हैं। रात के अंधकार में कवि का शोक छा गया है। प्रभात की अरुणिमा में भविष्य का संकेत कर कवि ने विदा ले ली है।

इसका सौंदर्य देखना हो तो शीघ्र ही अपनी प्रति मँगा लीजिए।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

मधुकलश

(पाँचवाँ संस्करण)

यह कवि की १९३५-३६ में लिखित 'मधुकलश', 'कवि की वासना', 'कवि की निराशा', 'कवि का गीत', 'पथभ्रष्ट', 'कवि का उपहास', 'लहरों का निमंत्रण', 'मेघदूत के प्रति' आदि प्रसिद्धि प्राप्त कविताओं का संग्रह है। यह सर्व प्रथम जुलाई, १९३९ में प्रकाशित हुआ था।

आधुनिक समय में समालोचकों द्वारा बच्चन की कविताओं का जितना विरोध हुआ है संभवतः उतना और किसी कवि का नहीं हुआ। उन्होंने अपने विरोधियों की कटु आलोचनाओं का उत्तर कभी नहीं दिया परंतु उससे जो उनकी मानसिक प्रतिक्रिया हुई है उसे अवश्य काव्य में व्यक्त किया है। उत्तर प्रत्युत्तर में जो बात कटु हो जाती वही कविता में किस प्रकार मधुर हो गई है, 'मधुकलश' की अधिकांश कविताएँ इसका प्रमाण हैं। कवि ने चारों ओर के आक्रमण के बीच किन भावनाओं और विचारों से अपनी सत्ता को स्थिर रक्खा है उसे देखना हो तो आप 'मधुकलश' की कविताएँ पढ़िए। इनके अंदर साहित्य के आलोचकों को ही नहीं जीवन के आलोचकों को भी उत्तर है, कवि के लिए ही नहीं मानवता के लिए भी संदेश है। क्योंकि जिस समय यह कविताएँ लिखी गई थीं उस समय साहित्यिक संघर्ष के साथ कवि के जीवन में भी संघर्ष चल रहा था और उन्होंने किसी स्थान पर पराजय स्वीकार न करने का दृढ़ व्रत धारण कर लिया था।

इसी पुस्तक के विषय में विश्वमित्र ने लिखा था, 'बच्चन जी की कविताएँ पढ़ते समय हमें इस बात की प्रसन्नता होती है कि हिंदी का यह कवि मानवता का गीत गाता है।'

नया संस्करण तैयार है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लें।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

मधुबाला

(छठा संस्करण)

यह कवि की १६३४-३५ में लिखित 'मधुबाला' 'मालिक-मधुशाला', 'मधुपायी', 'पथ का गीत', 'सुराही', 'प्याला', 'हाला', 'जीवन तरुवर', 'प्यास', 'बुलबुल', 'पाटल माल', 'इस पार—उस पार', 'पाँच पुकार', 'पगध्वनि' और 'आत्म परिचय' शीर्षक कविताओं का संग्रह है। यह सर्व प्रथम जनवरी, १६३६ में प्रकाशित हुआ था।

मधुशाला के पश्चात लिखे गए इन नाटकीय गीतों में मधुबाला और मधुपायी ही नहीं प्याला, हाला और सुराही आदि भी सजीव होकर अपना-अपना गीत गाने लगे हैं। कवि को मधुशाला का गुणगान करने की आवश्यकता नहीं रह गई, वह स्वयं मस्त होकर आत्म-गान करने लगी है। जिस समय यह गीत लिखे गये थे उस समय 'हाला', 'प्याला', 'मधुशाला' के रूपक हिंदी में नए ही थे, फिर भी कवि ने उन्हें अपने कितने भावों, विचारों और कल्पनाओं का केंद्र बना दिया है इसे आप गीतों को पढ़कर स्वयं देख लेंगे। इन गीतों में आप पाएँगे विचारों की नवीनता, भावों की तीव्रता, कल्पना की प्रचुरता और सुस्पष्टता, भाषा की स्वाभाविकता, छंदों का स्वछंद संगीतात्मक प्रवाह और इन सब के ऊपर वह सूक्ष्म शक्ति जो प्रत्येक हृदय को स्पर्श किए बिना नहीं रह सकती कवि का व्यक्तित्व। इन्हीं गीतों के लिए प्रेमचंदजी ने लिखा था कि इनमें बच्चन का अपना व्यक्तित्व है, अपनी शैली है, अपने भाव हैं और अपनी फ़िलासफ़ी है।

'मधुशाला' की रुबाइयों के लिए आलोचकों ने प्रायः कहा है कि वह उर्दू साहित्य की परंपरा का अनुकरण है। परंतु 'मधुबाला' में जिस प्रकार के गीत कवि ने लिखे हैं वे सर्वथा मौलिक हैं। फुटकर शेरों और रुबाइयों में विषयों की भरमार होने पर भी उन्होंने उर्दू में कभी ऐसे गीतों का रूप नहीं धारण किया।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

मधुशाला

(सातवाँ संस्करण)

यह कवि की १९३३-३४ में लिखित १३५ रुबाइयों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम अप्रैल सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ था। हाला, प्याला, मधुबाला और मधुशाला के केवल चार प्रतीकों और इन्हीं से मिलने वाले कुछ गिनती के तुकों को लेकर बच्चन ने अपने कितने भावों और विचारों को इन रुबाइयों में भर दिया है इसे वे ही जानते हैं जिन्होंने कभी मधुशाला उनके मुँह से सुनी या स्वयं पढ़ी है। आधुनिक खड़ी बोली की कोई भी पुस्तक मधुशाला के समान लोकप्रिय नहीं हो सकी इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। अब समालोचकों ने स्वीकार कर लिया है कि मधुशाला में सौंदर्य के माध्यम से क्रांति का ज़ोरदार संदेश भी दिया गया है।

कवि ने इसे 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का अनुवाद करने के पश्चात् लिखा था इस कारण वे उसके बाहरी रूपक से प्रभावित अवश्य हुए हैं परंतु यह भीतर से सर्वथा स्वानुभूत और मौलिक रचना है जिसकी प्रतिध्वनि प्रत्येक भारतीय युवक के हृदय से होती है।

भाव, भाषा, लय और छंद एक दूसरे के इतने अनुरूप बन पड़े हैं कि हिंदी से अपरिचित व्यक्ति भी इसका वैसा ही आनंद लेते हैं जैसा कि हिंदी से सुपरिचित व्यक्ति। आज ही इसे लेकर बैठ जाइए और इसकी मस्ती से झूम उठिए।

स्वर्गीय प्रेमचंद जी ने पुस्तक की आलोचना करते हुए लिखा था कि "मधुशाला हिंदी में बिलकुल नई चीज़ है; यह श्रेय बच्चन को ही है कि हिंदी साहित्य में उन्होंने मधुशाला भी सजा दी।" इतना हम और कहेंगे, आप चाहे जितनी बार इसको पढ़ें हर बार आप को यह नई ही लगेगी।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

ख़ैयाम की मधुशाला

(तीसरा संस्करण)

यह फिट्ज़जेराल्ड कृत रुबाइयात उमर ख़ैयाम का पद्यात्मक हिंदी रूपांतर है जिसे कवि ने सन् १९३३ में उपस्थित किया था। मूल पुस्तक के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इसकी गणना संसार की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में है। अनुवाद में प्रायः मूल का आनंद नहीं आता, परंतु बच्चन के अनुवाद में कहीं आपको यह कमी न दिखाई पड़ेगी। वे एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द रखने के फेर में नहीं पड़े। उन्होंने उमर ख़ैयाम के भावों को ही प्रधानता दी है। इसी कारण उनकी यह कृति मौलिक रचना का आनंद देती है।

स्वर्गीय प्रेमचंद जी ने जनवरी '३६ के 'हंस' में पुस्तक की आलो-चना करते हुए लिखा था कि 'बच्चन ने उमर ख़ैयाम की रुबाइयों का अनुवाद नहीं किया ; उसी रंग में डूब गए हैं।' हिंदी में पुस्तक के और अनुवाद भी हैं पर 'लीडर' ने स्पष्टतया लिखा था कि:—

.........Bachchan has a great advantage over many translators in that he himself feels, for all we know, very much like the poet astronomer of Nishapur.

इस संस्करण में पहली बार अनुवाद के साथ-साथ मूल अंग्रेज़ी, और कवि लिखित सार-गर्भित भूमिका और टिप्पणी भी दी गई है। यदि आप अंग्रेज़ी से भिज्ञ हैं तो अनुवाद की सफलता को आप स्वयं देख सकेंगे।

यदि आपने पहले-दूसरे संस्करण देखे भी हैं तो हम आपसे इसे पढ़ने का अनुरोध करेंगे।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रारंभिक रचनाएँ—पहला भाग

(दूसरा संस्करण)

बच्चन की प्रारंभिक रचनाओं का प्रथम संग्रह 'तेरा हार' के नाम से सन् '३२ में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद उनकी दूसरी पुस्तक 'मधुशाला' सन् '३५ में प्रकाशित हुई। इन दोनों पुस्तकों में विचार-धारा तथा कवित्व की दृष्टि से बहुत अंतर था जिससे साधारण पाठक तथा आलोचक दोनों विस्मित थे। इस रहस्य का कारण था कवि की लिखी बीच की कविताओं का प्रकाश में न आना। आज जब उनकी कविताएँ लाखों पाठकों द्वारा पढ़ी जाती हैं और कवि के प्रति उनका सहज प्रेम है तब यह आवश्यक समझा गया कि उनकी बीच की कविताओं का प्रकाशन भी किया जाय। इसी विचार के अनुसार 'तेरा हार' में उसके बाद की २३ और कविताएँ संमिलित कर 'प्रारंभिक रचनाएँ' का पहला भाग प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तक का दूसरा भाग भी प्रकाशित हो गया है जिससे कि 'मधुशाला' तक की लिखी सब रचनायें पाठकों के सामने आ गई हैं।

यद्यपि यह बच्चन की प्रारंभिक रचनाएँ हैं, फिर भी सभी पत्र-पत्रिकाओं ने इनकी प्रशंसा की है। बच्चन की कविताओं का क्रम-विकास समझने के लिए इसे देखना बहुत आवश्यक है।

पर इन कविताओं की महत्ता केवल ऐतिहासिक ही नहीं है। भावना की दृष्टि से भी इनके अंदर वह सचाई है जो अपने को प्रकट करने के लिए किसी कला की प्रौढ़ता की प्रतीक्षा नहीं करती।

बच्चन की समस्त रचनाओं में जो उनके व्यक्तित्व की एकता है, इसके कारण आप उनकी नई रचनाओं का आनंद तभी ले सकेंगे जब उनकी प्रारंभिक रचनाओं से भी आप अच्छी तरह भिज्ञ हों।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रारंभिक रचनाएँ—दूसरा भाग

(दूसरा संस्करण)

जैसा कि नाम से ही प्रकट है यह प्रारंभिक कविताओं के संग्रह का दूसरा भाग है। प्रारंभिक रचनाएँ, प्रथम भाग की लगभग आधी कविताएँ पहले 'तेरा हार' के नाम से प्रकाशित हो चुकी थीं, परंतु इस भाग की समस्त कविताएँ पहली बार जनता के सामने लाई जा रही हैं, केवल दो कविताएँ, 'कवि के आँसू' 'विशाल भारत' में, और 'ग्रीष्म बयार' 'सुधा' में प्रकाशित हुई थीं।

इस भाग की कविताएँ प्रायः १९३१-३३ के अंदर लिखी गई हैं। देश के इतिहास से परिचित लोग जानते हैं कि यह समय कितनी आशाओं, आयोजनों और दमनों का था। ऐसे समय में एक नवयुवक कवि की प्रतिक्रियाएँ क्या हुईं, इसे जानने के लिए इस पुस्तक का देखना बहुत ज़रूरी है।

बच्चन का अपनी मधुशाला के साथ प्रवेश करना एक साहित्यिक घटना थी। ये कविताएँ मधुशाला की रचना के ठीक पहले की हैं। इन्हें पढ़ने से आपको पता चल जायगा कि इनमें मधुशाला के गायक की तैयारी हो रही थी। श्रृंगारिकता और क्रांति का जो मिश्रण मधुशाला में दृष्टिगोचर होता है उसकी पहली झलक आपको इन कविताओं में मिलेगी। प्रारंभिक रचनाओं के दूसरे भाग का अंत ही तीन रुबाइयों के साथ होता है और उसके पश्चात ही कवि ने रुबाइयों की वह धारा प्रवाहित की कि जिसमें समस्त हिंदी समाज शराबोर हो उठा।

आप इस पुस्तक को एक बार अवश्य देखिए।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद